प्रकाशकीय—

कलाकार श्रीवाजपेयीजी की कहानियों का यह नया संकलन हिन्दी के कथा-प्रेमी पाठकों के सामने आज मैं बहुत प्रसन्नता-पूर्वक रख रहा हूँ। इस संग्रह की अधिकांश कहानियाँ यद्यपि वाजपेयीजी ने समय-समय पर बहुत पूर्व लिखी थीं; परन्तु मेरे आग्रह से जब उन्होंने इन कथाओं को संग्रह का रूप देना स्वीकार किया, तब एक बार इन्हें आदि से अन्त तक देखकर, अपनी आज की शैली और विचार-धारा का ध्यान रख कर, जहाँ उचित समझा, वहाँ बदल भी दिया है। इसलिए अब मैं विश्वास के साथ यह कह सकता हूँ कि ये कहानियाँ एक तरह से हिन्दी-संसार के सामने बिल्कुल नये रूप में आ रही हैं।

इन कहानियों में क्या है, मुझसे अधिक पाठक इसको पहले से जानते हैं। इसलिये मैं यहाँ केवल इतना कहना चाहता हूँ कि इनमें हमारे आज के समाज का एक जीता-जागता चित्र अंकित है। एक ऐसा चित्र, जिसे हम देखते तो नित्य अपनी आँखों से हैं; पर जीवन-संग्राम

में बराबर जुटे और फँस रहने के कारण या तो पूरी तरह देख नहीं पाते, अथवा देखकर भी टाल जाते हैं। सोचते हैं--कौन झंझट पाले--अपने को इतनी फ़ुरसत कहाँ है! संसार में यह तो चला ही करता है--जो होनहार है, वह हो के रहेगा, उसे मिटा कौन सकता है?

परन्तु वाजपेयीजी ने इन कथाओं में व्यक्ति और समाज का ऐसा एकतरफ़ा, एकांगी और उदासीन दृष्टिकोण नहीं रक्खा। क्योंकि वे मानते हैं कि आज के मनुष्य को अपने आस-पास देखकर चलना पड़ता है। क्योंकि आज का मनुष्य अपने-आप में अकेला रहकर पूर्ण नहीं होता। आज के किसी व्यक्ति का कोई स्वार्थ ऐसा नहीं हो सकता, जिसका सम्बन्ध समाज के साथ न हो; आज के व्यक्ति की कोई ऐसी समस्या नहीं हो सकती, जिस का असर सम्पूर्ण समाज पर न पड़े। पाठक देखेंगे कि इन कथाओं में वाजपेयीजी का यह दृष्टिकोण स्थान-स्थान पर स्पष्ट झलकता है।

यहाँ एक बात मुझे और कह देनी है। हिन्दी का पुराना कथा-साहित्य ऊपर लिखे दृष्टिकोण से सर्वथा पिछड़ा हुआ रहा है। पुरातन युग में साहित्य और कला की पहली शर्त रही है—मनोरंजन। वाजपेयीजी ने अपनी पिछली कथाओं में इसका कितना सुन्दर निर्वाह किया है, यह हिन्दी-संसार से छिपा नहीं है। परन्तु पाठक यह देखकर चकित हुए बिना न रहेंगे कि मनोरंजन का ध्यान रखते हुए भी उन्होंने इन कथाओं में नये युग की नयी विचार-धाराओं का समावेश और निर्वाह कितनी सफलता के साथ किया है।

कार्तिका एकादशी
संवत् २००० वि०
इलाहाबाद

गयाप्रसाद तिवारी

कथाएँ—

अंगारे

रहस्य की बात

विपिन अपनी बैठक में बैठा हुआ एक संवाद-पत्र देख रहा था। प्रशान्त मानस में यदि वह ऐसा उपक्रम करता, तो कोई बात न थी। किन्तु वह तो अपने अंतःकरण के साथ परिहास कर रहा था। एक पंक्ति भी निश्चित रूप से वह ग्रहण नहीं कर सकता था।

यह विपिन इस समय जो अतिशय उद्विग्न है और किसी भी काम में उसकी जो प्रवृत्ति नहीं है, उसका एक कारण है। बात यह है कि वह आशावादी रहा है। वह मानता आया है कि चेष्टा-शीलता ही जीवन है। किन्तु आज से उसे प्रतीत हुआ है कि नियति के राज्य में आशा और आस्था की कहीं कोई गति नहीं है। यह समस्त विश्व कवि का एक स्वप्न है। वास्तव में कामना और उसकी सफलता, तृप्ति और संतोष, भोग और शान्ति, एक कल्पित शब्द-सृष्टि है।

पाकेट से सिगरेट-केस निकालकर उसने एक सिगरेट होठों से दबा ली। दियासलाई जलाकर वह धूम्र-पान करने लगा।

ओह! विपिन का जो आनन सदा उल्लास-दोलित रहा है, आज कैसा विषण्ण और कैसा विवर्ण हो गया है! मानो उसका अब तक का समस्त ज्ञान कोई वस्तु नहीं है, नितान्त क्षुद्र है वह।

निकटवर्ती आकाश में धूम्र-शिखाओं के बारिद उड़ाता हुआ विपिन सोच रहा है—"इस वीणा पर वह कितना विश्वास करता था ! वह मानने लगा था कि वह तो उसके हृदय की रानी है, मनोमन्दिर की देवी। मानों अपने प्रस्ताव की स्वीकारोक्ति का भी वह स्वयं ही अधिकारी है; उसका आत्म-विश्वास ही उसकी सिद्धि है,जीवन का चरम साफल्य।...किन्तु—

"उसने तो कल कह डाला—"मैं ?......मैं तो चाहती हूँ कि तुम मुझे भूल जाओ, मुझसे घृणा करो। क्योंकि तुम्हारी चरम कुत्सा ही मेरे जीवन की तृप्ति है—उसका एकमात्र अवलम्ब। मैं प्रेम नहीं जानती, प्रीति नहीं जानती। मैं नहीं जानती कि प्यार क्या चीज़ है ! मैं विश्वास नहीं करती कि नारी के लिये स्वामी एक-मात्र आश्रय है, आधार। मैं तो नारी की स्वतन्त्र सत्ता पर विश्वास रखती हूँ।"—कहते-कहते न तो उसकी चेष्टा में कहीं कोई असंगति का लेश दृष्टिगत हुआ, न अप्रकृत धारणा की-सी कोई अप्रतीति।

यही सब सोचकर विपिन दिनभर नितान्त विमूढ़-सा, पराजित-सा, बना रहा।

उसकी माँ ने पूछा—"आज तू कुछ उदास-सा क्यों देख पड़ता है ?" उसके पिता ने कहा—"क्या कुछ तबीयत ख़राब है ?"...उसके अग्रज ने टोंक दिया—"बात क्या है रे विपिन कि आज तू मेरे साथ पेट-भर खाना भी नहीं खा सका ?" उसकी भाभी चाय लेकर आई, तो उसने लौटा दी। किन्तु वह इन प्रश्नों के उत्तर में कुछ कह न सका। अपनी स्थिति के मर्म को उसने किसी को भी स्पर्श न करने दिया। दिनभर वह निश्चेष्ट बना रहा।

किन्तु यह बात इस विपिन के लिए केवल एक दिन की तो थी नहीं। वह तो उसके जीवन की एकमात्र समस्या बन गई थी। अतएव अकर्मण्य बनकर वह कैसे रहता ? धीरे-धीरे उसने एक विचार स्थिर कर लिया, एक निश्चय में वह आबद्ध हो गया। वह यह समझने की चेष्टा में रहने लगा कि वीणा उसकी कोई नहीं थी। वह तो उसके लिए भ्रम-

मात्र थी—स्वप्न-सी अकल्पित, मृग-तृष्णा-सी ऐन्द्रजालिक। वह अकेला आया है और अकेला जायगा।

—"लोग कहा करते हैं, मानवप्रकृति अपरिवर्तनशील है। लोग समझ बैठते हैं कि मनुष्य की आन्तरिक रूप-रेखा नहीं बदलती। संसार बदल जाता है, किन्तु मानवात्मा की प्रेरणा सदा एकरस अक्षुण्ण रहती है। किन्तु इस प्रकार के निष्कर्ष निकालते समय लोग यह भूल जाते हैं कि मनुष्य की स्थिति वास्तव में है क्या ? जो सत्ता जगत के जन-जन के साथ समन्वित है, जिसकी चेतना और अनुभूति ही उसकी मूर्त अवस्था है, किसी के स्पर्श और आघात के अनुषंग से उसका अपरिवर्जन कैसे संभव है ?"

दिन आये और गये। विपिन अब कलाविद् न रहकर दार्शनिक हो गया।

[२]

उसके पिता अत्यधिक बीमार थे। यहाँ तक कि उनके जीवन की कोई आशा न रह गई थी। वे रायसाहब थे। उन्होंने अपने जीवन में यथेष्ट सम्पत्ति और वैभव का अर्जन किया था। अपनी सदाशयता और विनय-शीलता के कारण नगर-भर में उनकी-सी सर्वाधिक प्रतिष्ठा का कहीं किसी में सादृश्य न था। नित्य ही अनेक व्यक्ति उनके यहाँ दर्शन तथा मंगल-कामना प्रकट करने के लिये आते रहते थे।

वृद्धता में तो रायसाहब का अंग-अंग शिथिल-ध्वस्त हो ही रहा था; किन्तु मोतियाबिन्दु के कारण उनके नेत्रों की ज्योति भी अत्यंत क्षीण हो गई थी। यहाँ तक कि वे अपने आत्मीय जनों का परिचय दृष्टि से ग्रहण न करके स्वर से प्राप्त करते थे।

एक दिन की बात है। रात के आठ बजे का समय था। रायसाहब बोले—"कहाँ गया रे विपिन !"

विपिन ने तुरन्त उत्तर दिया—"मैं यहाँ पास ही तो बैठा हूँ बाबू ! कहो, क्या कहते हो !"

रायसाहब ने पूछा—"यहाँ और कोई तो नहीं है?"

"नहीं है और कोई बाबू। मैं यहाँ अकेला ही बैठा हूँ।" विपिन ने उत्तर दिया।

"एक बात कहने को रह गई है। उसे और किसी को न बतलाकर तुझीको बतलाना चाहता हूँ। बात यह है कि तू विचारक है, चिन्तक। तेरी आत्मा में मेरा सारा प्रतिनिधित्व आलोकित है। मुझे विश्वास है कि तू मेरी उस बात को स्थायीरूप से ग्रहण करेगा।" रायसाहब ने अटूट विश्वास के साथ अधिकार-पूर्वक दृढ़ होकर कहा।

"कहो न, इतना सोच-विचार क्यों करते हो?" विपिन कहते-कहते अत्यधिक आतुर हो उठा।

रायसाहब का मुख म्लान पड़ गया। प्रतीत हुआ, जैसे कोई अवर्णनीय अतीत अपने समस्त-कल्याण साधन के साथ उनके अनुताप-दग्ध आनन पर मुद्रित हो उठा है।

उन्होंने कहा—"किन्तु मुझे कुछ कहना न होगा। सभी कुछ मैंने अपनी डायरी में लिख दिया है। इस देह से मेरे विदा हो जाने के बाद उसे देख लेना। मुझे विश्वास है कि उस समय जो कुछ तुझको उचित प्रतीत होगा, वही होगा मेरी कामना का रूप और तेरा कर्तव्य।

[३]

विपिन का जीवन पूर्ववत् चल रहा था। यद्यपि वीणा के प्रति उसमें अब वह मदिर आकर्षण न था, तथापि शिष्टाचार और साधारण कर्तव्य के जगत् में वह केवल वीणा के प्रति ही नहीं, किसी के लिये भी अपने आपको बदल न सकता था। सभी से वह उसी प्रकार विहँसकर बातें करता। और चटुल-हास में तो वह कहीं भी अपना सादृश्य न देख पाता था।

यह सब कुछ था। किन्तु भीतर से विपिन अब कुछ और था। उसकी स्थिति प्रस्तावक की न रहकर अब अनुमोदक की हो गई थी। वह स्थल-पद्म का एक शुष्कदल-मात्र था। रङ्ग वही था, सौरभ भी अमन्द था, किन्तु

मृदुल कोपल की-सी स्पर्श-मोहक कमनीयता अब उसमें कहाँ से होती ? वह तो अब उसका इतिहास बन गई थी।

उस दिन के वार्तालाप के पश्चात् एक दिन साधारण रूप से ही वीणा ने पूछ दिया—"मेरी उस दिन की बातों का तुम कुछ बुरा तो नहीं मान गये ?"

विपिन वृश्चिक-दंश के समान उत्क्लेश-ध्वस्त होकर रह गया। बड़ी चतुरता के साथ अपनी स्थिति की रक्षा करते हुए उसने उत्तर दिया—"बुरा क्यों मानूंगा वीणा ? बुरा मानने की उसमें बात ही क्या थी ? अपने-अपने निजत्व की बात है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ अपने विचार रखता है, उसके कुछ अपने सिद्धान्त होते हैं। तुम भी यदि अपने कुछ सिद्धान्त रखती हो, तो इसमें मेरे या किसी के भी बुरा मानने की क्या बात हो सकती है ?"

यह वीणा भी एक विलक्षण नारी है—अपने विश्वासों की रानी, निराशाहीन, उत्तरङ्ग और अपराजित। उस दिन उसने विपिन को जान-बूझकर विशिष्ट विभ्रम में डाल दिया था। मानवात्मा की निर्बाध कल्लोल-राशि में पली हुई इस नारी की यह एक प्रकृतक्रीड़ा है। अभीप्सित विलास-गर्भित हो-होकर वह जगत् का समस्त रूप इस जीवन के विकल्प में अनुभव कर लेना चाहती है। वह किसी से भी अपनी आकांक्षा प्रकट नहीं करती और किसी की भी आकांक्षा को अपने निजत्व के साथ स्थापित नहीं होने देती। वह सदा-सर्वदा निर्द्वन्द्व रहना चाहती है। वह मानती है कि उसे निर्झरिणी की भाँति सदा मुखरित रहना है। मानो यह भी नहीं देखना है कि कितनी पाषाण शिलाएँ उसके कोलाहल में आईं और गईं और उसके निनाद की गति में यदि कभी यति उपस्थित हो गई, तो उस समय उसकी क्या स्थिति होगी।

विपिन के इस उत्तर से वीणा के जलजात-दुर्लभ अधर-पल्लव खिल उठे, दाड़िम-दशन-युग्म झलक पड़े। विहँसती हुई वह बोली—"तुम पागल हो गये हो विपिन ! मेरी उस दिन की बातों ने तुम्हें बिल्कुल

बदल दिया है। फिर भी तुम इसे स्वीकार नहीं कर रहे हो। आघात सहते हुए कोई व्यक्ति कभी अस्पर्श्य रह भी नहीं सका है कि एक तुम्हीं रह पाओगी!"

"मनुष्य का हृदय मिट्टी का घरौंदा नहीं है वीणा, जिसे जब चाहोगी तब ठोकर मारकर नष्टकर डालोगी और फिर उमङ्ग में आकर उसे इच्छानुकूल बना लोगी। संसार में ऐसा कौन है जो परिस्थिति के अनुसार बदलता न हो? मैं तुम्हीं से पूछता हूँ वीणा। बतलाओ, तुम्हीं क्यों बदल रही हो, आज तुम्हीं को यह पागलपन क्यों सूझ रहा है? जिस व्यक्ति से तुम्हारा कोई सौहार्द नहीं है, जिसकी आत्मीयता तुम्हारे लिये सर्वथा क्षुद्र हो गयी है, उनके मर्मस्थल को कोंच-कोंचकर तुम जिस आनन्द का अनुभव कर रही हो वीणा, वह आनन्द--वह उल्लास--मानवात्मा का नहीं--मुझसे कहलाओ मत कि किसका है!"

विपिन अकस्मात् उत्तेजित होकर कह गया। उसकी अपरूप भावभङ्गी देखकर वीणा कुछ क्षणों के लिये अवाक् रह गई।

विपिन तब स्थिर न रहकर फिर बोला—"रह गई बात बुरा मानने की। सो मैं जानना चाहता हूं वीणा, बुरा और भला संसार में है क्या! कौन कह सकता है कि आज मैं जो हो सका हूँ, उसके मूल और मूलतम प्रदेश में कहीं कोई ऐसी बात भी है जिससे तुम 'बुरा मानना' कह सकने का साहस कर सकती हो। मान लो, मैंने बुरा मानकर उसे भला मान लिया है! मैं बुराई-मात्र को भलाई की दृष्टि से देखने का अभ्यासी हूँ। दुनिया के लिये तुम चाहे जो हो वीणा, मेरे लिये तो तुम महामहिमामयी जगत्तारिणी मन्दाकिनी हो। मैं तुम्हारा कितना उपकृत हूँ, कह नहीं सकता।"

उसका आनन ज्वलन्त कान्ति से जगमग हो उठा।

वीणा समझती थी, वह अपराजिता है—किसी के समक्ष वह कभी हार नहीं सकती। एक वीणा ही नहीं, संसार की निखिल यौवनदृप्त अंगनाएँ कदाचित् ऐसा ही समझती हैं। वे नहीं जानती कि व्यक्तित्व के चरम उत्कर्ष की क्षमता उन्हें किस अर्थ में ग्रहण करती है। वे नहीं

अनुभव करतीं कि कोई उत्क्षेप उनके लिये अकल्पित भी हो सकता है। वे नहीं देखतीं कि किसी के अन्तस्तल की शून्यता भी उन्हें आकण्ठ प्लावित बना रही है। वीणा भी ऐसी ही नारी थी। किन्तु आज के इस क्षण में उसे ऐसा प्रतीत हुआ, मानों इस विपिन के आगे वह क्षुद्र अतिशय क्षुद्र हो गई है। कोई भी उसकी मर्यादा नहीं है। कहीं भी उसकी गति नहीं है। यही एक विपिन इसमें समर्थ है कि वह चाहे तो गर्त से उसे उठाकर चरम नारीत्व तक पहुँचा दे।

किन्तु वीणा ने अभी तक, जान पड़ता है, अपना हृदय कहीं कुछ अवशिष्ट भी रख छोड़ा था। तभी तो यह सब सोचते हुए उसके नयन-कटोरे भर आये। अटकते हुए अस्थिर आर्द्र स्वर में उसने कहा--"तुम मुझे क्षमा करो विपिन या चाहे तो न भी करो; लेकिन हाय! तुम यह भी तो जानते कि मैं कितनी दुखिया नारी हूँ। मैं किसी को चाह नहीं सकती, किसी का हृदय अपना नहीं बना सकती। और अधिक क्या बताऊँ, जबकि मैं खुद ही नहीं जानती कि मैं क्या हूँ, कौन हूँ।"

कथन के अन्तिम छोर तक पहुँचती-पहुँचती वीणा रो पड़ी।

वक्ष से लगाकर उसकी सुरभित कुन्तल-राशि पर दक्षिण कर फेरते हुए विपिन बोला—"तुम सचमुच पगली बन रही हो वीणा। स्नेह के राज्य में वर्ण, जाति और समाज की कोई भी सत्ता मैं नहीं मानता। तुम नारी हो, बस तुम्हारा एक यही लक्षण पुरुष के लिये यथेष्ट है। रोओ मत वीणा। यह पार्क है। कोई देखेगा तो क्या कहेगा? न, मैं तुम्हें और अधिक न रोने दूंगा—किसी तरह नहीं।"

उस दिन के पश्चात् वीणा विपिन के घर पूर्ववत् आने लगी।

[४]

रायसाहब का संस्कार हुए कई मास बीत चुके थे। यद्यपि विपिन की दिनचर्या फिर पूर्ववत् चलने लगी थी, तो भी इधर कुछ दिनों से

उसके जीवन की अनुभूति का एक नया पृष्ठ खुल रहा था। विनोद विपिन का सहचर था और वह निरन्तर उसके साथ रहता था। यहाँ तक कि दोनों एक ही बँगले में साथ-ही-साथ रहने लगे थे। इधर बात यह थी, उधर वीणा जब कभी उससे मिलने आती, तब साथ में अपनी सखी लतिका को भी अवश्य लाती। क्रमशः विनोद और लतिका के मिश्रण से इस मण्डली का वातावरण अधिकाधिक मनोरञ्जक होता जा रहा था।

विनोद यों तो संस्कृत का प्रोफेसर था, किन्तु विचार-जगत् की दृष्टि से वह एग्नास्टिक था। विवाद के अवसर पर वह प्रायः कहा करता—"हम ईश्वर के विषय में न कुछ जानते हैं, न जान सकते हैं।"

और लतिका?

वह पूर्ण, बल्कि सम्पूर्ण अर्थों में कट्टरआस्तिक थी। उसका कथन था कि एक ईश्वर ही नहीं, मनुष्य की विविध अनुभूतियाँ अमूर्त होती हैं। फिर भी हम. उनको ग्रहण ही करते हैं, कभी उसके प्रति अविश्वासी नहीं होते। तब कोई कारण नहीं कि जिस अजेय सत्ता का अनुभव हम अपने जीवन में क्षण-क्षण पर करते हैं उसके प्रति अविश्वासी बनें। यह तो हमारी कृतघ्नता की पराकाष्ठा है। यह तो मानवता का चरम अपमान है—एक तरह का जंगलीपन, जहालत। दोनों वक्तृत्वकला में, तर्कशास्त्र में, एक दूसरे को चुनौती देते थे। कभी-कभी जब विवाद बढ़ जाता, तो विपिन और वीणा को बीच-बचाव तक करना पड़ता। ऐसी भयंकर परिस्थिति उत्पन्न हो जाती थी।

एक दिन की बात है, बात बढ़ जाने पर उत्तेजना में आकर विनोद कह बैठा—"स्वामी राम! स्वामी राम तो भक्त थे। और भक्त ज्ञानी नहीं होता; क्योंकि वह तो साधना पर विश्वास रखता है। दूसरे शब्दों में हम उसे मूर्ख कह सकते हैं।"

लतिका ने आरक्त मुद्रा में उत्तर दिया—"बस, अब हद हो गई मिस्टर विनोद! अब तुमको सावधान होना पड़ेगा। स्वामी राम के

लिये यदि फिर कभी तुमने ऐसे घृणित विशेषण का प्रयोग किया, तो मैं इसे किसी तरह बरदाश्त न कर सकूंगी।"

अभी तक विनोद बैठा था। अब वह उठ खड़ा हुआ। अदम्य उत्तेजित स्वर में उसने कहा—"पशुता की मात्रा हममें जितनी ही अधिक हो, देश-भक्ति की दुनियाँ में यद्यपि हम इस समय उसका आदर ही करेंगे, फिर भी मैं उसे जंगलीपन तो मानता ही हूँ। तो भी मिस लतिका, मैं तुम्हें बतला देना चाहता हूँ कि असहनशीलता के क्षेत्र में भी अन्त में पश्चात्ताप ही तुम्हारे हाथ लगेगा।"

फिर तो बातें इतनी बढ़ीं कि एक ने कहा—"बस, अब तुम्हारी ज़बान निकली कि मैंने तुम्हें यहीं समाप्त किया।"

दूसरे ने जबाब दिया—"मैं तुम्हारे इस दम्भ को मिट्टी में मिलाकर छोड़ूंगा।"

उस दिन बड़ी मुश्किल से उस उभड़ते हुए काण्ड की रक्षा की जा सकी।

विपिन पहले तो इस घटना को कुछ दिन तक अमांगलिक ही मानता रहा, परन्तु फिर आगे चलकर जब उसने अनुभव किया कि वीणा और विनोद उस दिन के पश्चात् अधिकाधिक आत्मीय हो रहे हैं, तब उसे व्यक्तिगत रूप से बोध हुआ कि हमारा कोई भी क्षण व्यर्थ नहीं है। जीवन का पल-पल हमारे भविष्य-निर्माण के लिये सर्वथा सूत्र-बद्ध है।

दिन बीतते गये और विपिन की दृष्टि वीणा पर से उचट कर लतिका पर जा पहुँची। पहले तो अपने इस नवीन परिवर्तन की वह बराबर उपेक्षा करता रहा। बार-बार वह यही सोचता कि मनुष्य का यह मन भी सचमुच क्या चिड़ियों की फुदक की भाँति ही चटुल है! क्या वास्तव में उसके भीतर अक्षय प्रेम की ज्योति का अभाव ही है! परन्तु फिर वह यह स्थिर करने लगा कि पहले यह भी तो निश्चित हो जाय कि प्रेम है क्या? क्या यह सम्भव नहीं हो सकता कि कल जिसे

हम प्रेम समझते थे, आज वही जो हमें मृगतृष्णावत् प्रतीत होता है, वह एकदम अकारण नहीं है? जैसे धर्म के अनेक रूप हैं, वैसे ही क्या प्रेम के अनेक रूप नहीं हो सकते? कल्पना कीजिये कि वीणा बिनोद को चाहती है—निस्संदेह हृदय से चाहती है। और उनका वह मिलन भी सर्वथा श्रेयस्कर है। ऐसी दशा में मैं उसका पथ प्रशस्त करके उसके सामने से हट जाता हूँ। तो क्या यह बात वीणा के प्रति मेरे उत्सर्ग की और दूसरे शब्दों में प्रेम की नहीं है?

विपिन जल्दबाज़ नहीं है। वह अतुलनीय धीर-गम्भीर है। वह कभी लतिका के जीवन का अनुभव करता है, कभी वीणा का। इसी भाँति उसके दिन बीत रहे हैं। इस कालक्षेप में वह उद्विग्न नहीं बनता। क्योंकि वह मानता है कि जैसे ज्ञान के लिये यह विश्व असीम है, वैसे ही जीवन के लिये ज्ञान भी असीम है। तब उसके समन्वय में काल के अनन्त राज्य में यह आज क्या और कल क्या!

[५]

पिता के द्विवार्षिक श्राद्ध से निश्चिंत होकर एक दिन विपिन उनकी डायरी के पृष्ठ उलटने लगा। उसमें एक जगह लिखा था—

"संसार मुझे कितनी प्रतिष्ठा देता है! नगर का कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं, जिसकी श्रद्धा, जिसका सम्मान मुझे प्राप्त न हो! सांसारिक वैभव भी मैंने थोड़ा अर्जन नहीं किया है। लोग समझते हैं, मेरा जीवन बहुत ऊँचा है, मैं सब प्रकार से सुखी हूँ। बड़े संतोष की मृत्यु मैं लाभ करूँगा। जैसी अक्षय कीर्ति मुझे अपने इस जीवन-काल में मिली है, परलोक-यात्रा में भी मैं वैसे ही महत्तम पुण्य का भागी बनूँगा। किन्तु लोग नहीं जानते कि अपने यौवन-काल में मैंने कैसे-कैसे गुरुतर पाप किये हैं!

"तारा एक सम्भ्रान्त कुल की युवती थी। अपूर्व सौन्दर्य था उसमें, सर्वथा अलौकिक। एक बार प्रसंग-वश उसे देखकर मैं सदा के लिये खो सा गया। किसी प्रकार मैं उसे प्राप्त करने का लोभ संव-

रण न कर सका और विवश होकर अपने ताल्लुक़े की देख-भाल में मैं उसे ज़बर्दस्ती ले आया।

"अनेक वर्षों तक मैंने उसे संसार से अछूता रक्खा था। किन्तु संयोग की बात, मैं कुछ ऐसे कार्यों में लग गया कि फिर आगे चलकर उसकी आत्मीयता का निर्वाह न कर सका।

"मेरी बड़ी आकांक्षा थी कि मैं एक कन्या का पिता होता। किन्तु यह कैसे संभव था? हम जो चाहते हैं, केवल वही हमें नहीं प्राप्त होता। यही संसार की विलक्षणता है।

"किन्तु मैं कन्या से सर्वथा हीन ही हूँ, ऐसी बात नहीं है। तारा से एक कन्या हुई थी। मैंने उसका नाम रक्खा था; क्योंकि उसका कण्ठ-स्वर बड़ा मृदुल था। रूप-सौन्दर्य में भी वह अपने माँ के समान थी। बल्कि उससे बढ़कर। उसके वाम-स्कंध पर पास-ही-पास दो तिल हैं। जब मैंने सुना कि वह पढ़ रही है, तब मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। मैंने हठ-पूर्वक उसके व्यय के लिये पचीस रुपया मासिक वृत्ति देने पर तारा को राज़ी कर लिया। मैंने शपथ देकर उससे वचन ले लिया था कि वह उसका ब्याह अवश्य कर दे।

"किन्तु यह तो कोई प्रायश्चित्त नहीं है। जिसका मैंने सर्वस्व अपहरण कर लिया, उसके लिये यह सब क्या चीज़ है! मैं अनुताप से बराबर जलता रहा हूँ; और मुझे ऐसा जान पड़ता है कि मेरी इस जलन की सीमा नहीं है, थाह नहीं है, अन्त नहीं है। आह! मुंह खोलकर मैं किससे पूछूँ, कैसे पूछूँ कि मैं तारा के लिये अब क्या कर सकता हूँ? ऐसा जान पड़ता है कि इस जीवन में ही नहीं, अगले जीवन में भी मुझे इसी तरह जलना पड़ेगा।

"तो यह भी ठीक है। जीवन जैसे एक दीप है, जलना ही जैसे उसका धर्म, वैसे ही अगर मैं जलता ही रहूँ, तो भी वह मेरे जीवन की एक

सार्थकता है ! जो हो, आज अगर वह साकार होता तो उससे मैं यह पूछे बिन न रहता कि मेरी इस जलन का अन्त कहाँ है ?

* * *

और तब विपिन वीणा के कन्धे पर हाथ रखकर बोला—"अब चलो वीणा, मैं तुम्हें लेने आया हूँ। तुम मेरी बहन हो। मेरी जायदाद का तीसरा भाग तुम्हारा है। पिताजी की ओर से मैंने उसे विनोद को कन्या-दान में देने का निश्चय किया है।"

संकल्पों के बीच में—

[१]

एक साधारण-सा गाँव है और बाजार लगी हुई है। इधर-उधर अनाज, कपड़े, मिठाई, पसरट्टे तथा शाक-भाजी आदि की दूकानें लगी हुई हैं। पृथ्वी की सतह से कुछ ऊँचे चबूतरे-से बने हैं। दूकानदार लोग उन्हीं पर अपनी दूकान लगाये बैठे हुए हैं। जहाँ चबूतरे नहीं हैं, वहाँ लोग ज़मीन पर ही कपड़ा, बोरा या टाट बिछाकर—नहीं तो ईंट ही रख-कर—बैठ गये हैं। यत्र-तत्र नीम तथा जामुन के दो-चार पेड़ भी हैं। कुछ दूकानदार इन्हीं पेड़ों की जड़ों के सहारे बैठकर दूकान सजाये हुए हैं। क्रय-विक्रय के कथोपकथन से जो एक गम्भीर नाद उठता है, वह विधाता की सृष्टि की भाँति व्यापक और सर्वथा विलक्षण लक्षित होता है। इस छोर से उस छोर तक जैसे बहुत कुछ है, पर सिलसिला उसका टूटा हुआ है। लोग चीज़ ख़रीदते हैं; पर प्रसन्न होकर नहीं, मजबूर होकर। वस्तुओं की नवीनता जितना उनको प्रभावित करती है, पैसे का अभाव उससे अधिक उनके हृदय को काटता और जलाता है।

जामुन के एक वृक्ष की जड़ पर बैठी हुई गिलहरी अपने अगले पंजों से जामुन पकड़े हुए उसेकुतर-कुतर कर खा रही है। एक बार ज़रा-सा गूदा

अपनी चटोरी जीभ से लगाकर इधर-उधर देखती रहती है; कभी फुदक-कर ऊपर चढ़ जाती है; कभी नीचे उतर आती है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे स्वच्छन्दता और भोग के क्षेत्र में मनुष्य आज इस गिलहरी की भी अपेक्षा हीन—अत्यन्त हीन--बन गया है।

जामुन के इसी पेड़ के निकट शाक-भाजीवाले ताज़ी हरी-हरी तरकारियाँ लिये हुए उत्साहपुलकित मुद्रा से प्रत्येक व्यक्ति की ओर उत्सुकता-भरी आँखें बिछा रहे हैं। इन्हीं लोगों में एक सात-आठ वर्ष की एक बालिका भी है। कीचड़ के रंग की-सी मैली काली पाड़ की एक धोती-भर उसके बदन पर है। रंग खूब उजला गेहुँआ, आंखें बड़ी-बड़ी सीपी-सी, चंचल और चट से अपना परिचय अपने-आप दे देने वाली। शरीर इकहरा, मुंह कुछ लम्बा और नाक नुकीली। एक मैली तेलही चद्दर में ढेर-का-ढेर बथुआ लिये हुए बैठी है। कोई उसकी ओर देखे या न देखे; कोई उसके बथुए की ओर आवे, न आवे; पर वह सामने इधर-उधर जिसे देखती, उसी से कह बैठती—"बाबूजी, बथुआ ले लो, बथुआ।"

पवन के झोकों से जैसे कोई छैली हुई चमेली की शाखा सपुष्प लहरा उठे, वैसे ही उस बालिका का यह कथन निकट ही खड़े हुए एक युवक के मानस में एक छोर से दूसरे छोर तक लहरा उठा। उसी क्षण उसने अपनी शाक-भाजी से भरी हुई झोली दिखाकर कहा—"पर मैं तो दूसरी जगह से साग ले चुका हूँ। यह देख!"

बालिका एक क्षण कुछ अप्रतिभ-सी हो गयी; पर दूसरे ही क्षण वह—"तो थोड़ा-सा मुझसे भी ले लो। बड़ा बढ़िया बथुआ है। अभी-अभी ताज़ा तोड़कर लायी हूँ।"—कहती हुई बथुए की फूली और हरी गुच्छियाँ उस ढेर में से कुरेदने लगी।

युवक अनुभव करता है, बालिका प्रयत्न बिखरा रही है। वह कुछ क्षणों तक उसकी ओर देखता रहा। बिना उसे संतोष दिये उसका दयार्द्र मन न माना। उसने पूछा—"तू कहाँ रहती

हैं ? तेरे साथ और कौन है ?" यद्यपि वह अपने प्रश्न से ही पूछ लेना चाहता है कि तेरा साथ कौन देता है ? आज का समाज क्या साथ देने की भावना अपने में रखकर चल रहा है ? एक से दो, दो से चार, फिर दर्जनों वर्ग और समूह बन गये हैं और परस्पर नोच-खसोट में लगे हैं। संघर्ष ने निर्माण को दबोच रखा है।

बालिका बोली— "लछमन के पुरवा में रहती हूँ, बाबूजी ! बप्पा बीमार हैं। इसी मारे मैं आई हूँ; नहीं तो वही आते हैं।"

युवक —"और तेरी माँ ?—वह नहीं आती ?"

बालिका—"अम्मा !—वे तो अन्धी हैं !"

हाय रे संसार !—युवक का हृदय एकदम से अस्थिर हो उठा। उसके जेब में रुपयों के साथ पैसे केवल दो ही बचे थे। सो उन्हीं पैसों को उसने चट से निकाला, उसी बथुए की झोली में फेंककर वह रूमाल आँखों से लगाकर वहाँ से चल दिया।

बालिका कहती रही—"अरे बाबू, बथुआ भी तो लिये जाओ।"

पर युवक थोड़ी देर भी वहाँ ठहर न सका।

[२]

अम्मा ने पूछा—"आज इस समय तू उदास-सा क्यों देख पड़ता है, भैया ?"

रञ्जन आगे के दोनों बड़े-बड़े दाँत दिखलाते हुए हँसने का-सा मुंह बनाकर बोला—"नहीं तो !"

अम्मा बोली—"अब चाहे हँस ही दे; पर तेरा मुंह अभी कुछ उदास-सा जान पड़ता था।"

"कैसी अच्छी, हृदय के भीतर अपनी गति रखनेवाली ये तेरी माँ है !" युवक के कानों में कोई कहने-सा लगा।

शाक-भाजी से भरे हुए उस बँधे अँगौछे की गाँठ खोलते हुए रञ्जन बोला—"बड़ी शक्की स्वभाव की हो गयी हो, अम्मा ! भला मैं उदास क्यों होने लगा !"

"आलू, बैंगन, गोभी का फूल और बथुआ—सभी चीज़ें अच्छी हैं! जान पड़ता है, काशी में पढ़-लिखकर तू अब इस लायक़ हो गया है कि घर-गिरस्ती की चीज़ें खरीद सकेगा।"—कहती हुई रजन की मां मुस्करा उठीं। दुर्बलता के कारण आंखें गड्ढों में धँसी हुई हैं। चेहरे पर झुर्रियाँ और सिकुड़न भी है। आगे के दो दांत भी नहीं हैं। सो, सच पूछो तो उस समय रजन की मां के हास-मुखरित मुख की शोभा ऐसी विचित्र हो गयी कि रजन एकाएक उनकी ओर देखता रह गया।

बाहरी चौक में आकर रजन अपने बैठक में पहुँच गया। एक बार शाल उतारकर खूंटी पर रखने लगा, पर कुछ सोचकर फिर उसे ओढ़ लिया। अलमारी खोलकर कई पुस्तकें एक-एक करके उठाने, देखने और फिर उन्हें यथास्थान रखने लगा। क्या पढ़ें, क्या करें, कुछ निश्चित नहीं कर सका।...पेंसिल का क्लिप कभी होठों से आ मिलता है, कभी मस्तक पर जा पहुंचता है। पंद्रह मिनट हो गये हैं, कमरे से बाहर निकला और फिर भीतर आ पहुँचा है। बैठने को हुआ, पर बैठा नहीं। तब कमरे में इधर-से-उधर चक्कर लगाना शुरू किया। जेब से कुछ कागज निकाले। कुछ देखे भी, फिर रख दिये। अब एक डायरी निकाली और पेंसिल से कुछ नोट किया। पहले थोड़ा सा कुछ लिखा, फिर कुछ सोचा, कुछ लिखा, कुछ काटा; फिर बराबर लिखता रहा—लिखता ही रहा।

इसी समय रजन के बड़े भैया मक्खन बाबू आ गये। ध्यान उचट गया, पेंसिल रुक गयी, डायरी लिखना बन्द कर दिया। पूछा—"दादा, लछमन का पुरवा यहाँ से कितनी दूर होगा?"

दादा—"यहाँ से सवा-डेढ़ कोस होगा। क्यों? क्या वहाँ कुछ काम है?"

"नहीं तो, यों ही पूछा।"

"काम हो तो बतलाना। अपना नौकर गोकुल वहीं रहता है।"

"हूं, कोई काम नहीं। होगा, तो बतलाऊँगा। पर वहाँ काम ही क्या होगा! हाँ, कभी-कभी जी चाहता है कि अपने गाँवों में घूम आया करूँ।"

"अच्छा तो है। बड़ा अच्छा विचार है यह तुम्हारा। न हो, आज ही घोड़ी कसवा लो। जिधर चाहो, निकल जाओ। आजकल सरसों, अलसी तथा सेहुआँ खूब फूला हुआ है। जी ही बहल जायगा। न हो, साथ में किसी को लिये जाना।"

"मैं जाऊँगा तो अकेला ही। सो भी किसी सवारी पर नहीं, पैदल।"

"जैसी तुम्हारी इच्छा। पर कोई देखेगा तो क्या कहेगा! प्रतिष्ठा बनाने से बनती है, खोने से खो जाती है। लेकिन अगर तुम पैदल ही जाना चाहते हो, तो वह भी अच्छा है। टहलते-टहलते चले जाना। पर साथ में गोकुल को भी ले लेना अच्छा है।"

"देखा जायगा।"

[३]

रञ्जन अपने दादा को पत्र लिख रहा है—

पूज्यचरण दादाजी,

अब से पचास रुपये के बदले साठ रुपये भेजिये। पचास रुपये में काम नहीं चलता है। शाम को एक प्रोफेसर साहब के घर पर पढ़ने जाना होता है। साइकिल के बिना जाने-आने में बड़ी दिक्कत होती है। सो साइकिल लेनी ही पड़ेगी। साठ में काम लायक़ अच्छी मिल जायगी। इकट्ठे इस समय भेजने में शायद तुमको दिक्कत हो। इसलिए इंस्टालमेंट पर (थोड़ा-थोड़ा देकर) ले लूंगा। लेकिन ब्याज लगेगा, और तब अस्सी रुपये के बजाय सौ रुपये देने पड़ेंगे। जैसा ठीक समझिये। या तो एक सौ तीस रुपये एक साथ भेज दीजिये, या साठ रुपये बराबर भेजते रहिये। क्या बताऊँ, खर्चे में किफायत करने की भरपूर चेष्टा करता हूँ; पर जो ख़र्चे बँध गये हैं, उन्हें तोड़ने में कष्ट होता है।

आशा है, आप स्वस्थ और सानन्द होंगे। अम्मा के सिर में पीड़ा हुआ करती थी। अब क्या हाल है? जी चाहता है, कुछ दिनों के लिये उन्हें यहीं ले आऊँ। यहाँ (काशी में) रोज गङ्गास्नान करेंगी, तो तबीयत ठीक हो जायगी। मकान किराये पर ले लूंगा। होस्टल में जो खर्च अधिक होता है, उसी में किराया हो जाया करेगा। पूछकर लिखिये।

विनू (विनोद) तो अब हँसने लगा होगा। उसे खिलाने को जी कभी-कभी छटपटा उठता है।

चरणसेवक—

रजन

चिट्ठी लिखकर नौकर को पोस्ट करने के लिये दे दी। फिर सोचने लगे—"अगर दादा कभी आ भी जाएँगे, तो दो दिन के लिए किसी की भी साइकिल रख लूंगा। अरे हाँ, क्या वह किसी से पूछ बैठेंगे! हूँ-हूँ झूठ बोलना बुरा है। तो क्या वह निरा बुरा ही है? क्या बुरा भला नहीं होता? पुत्र-जन्म कितना शुभ होता है? पर क्या वह बुरा ज़रा भी नहीं है—किसी को भी नहीं है? क्या उस नारी के लिए भी वह भला ही है, जो पुरुष की प्राण है और जो इसी उपलक्ष्य में असह्य पीड़ा से अन्तर्हित हो जाती है! मन का भ्रम ही तो है यह सब। यह क़लम है; क्यों है भला यह क़लम? यह कपड़ा क्यों नहीं है? यह कम्बल है। अच्छा तो इसका नाम हल क्यों नहीं है? वह बिस्कुट है? अच्छा तो उसका नाम दमयन्ती क्यों नहीं रखा गया? सब अन्त में मान ही तो लिया गया है न? फिर क्या यह ज़रूरी है कि मिथ्या को हम घृणित ही समझा करें? जब यह समझना मेरे ही ऊपर निर्भर है; तो हमें अधिकार है कि हम चाहें तो मिथ्या को भी प्यार करें। प्यार करना तो मिथ्या नहीं है। जो प्यार है, वही सत्य है। क्योंकि वह मिथ्या को भी सत्य बना डालता है।"

और उसी क्षण रजन सोचने लगा—"जैसे संसार में मनुष्य-जीवन का अस्तित्व सत्य है और फिर क्षण-भर के घटनाक्रम से ही असत्य। अर्थात्

जो उसे सत्य कहो, तो वह मिथ्या है और जो असत्य कहो तो अमिथ्या। वैसे ही यह मेरा कथन मिथ्या है, तो भी वह सत्य के समान सुखकर है। और जो मनोहर, सुखकर और शांतिकर है, वह यदि ऊपर से मिथ्यावत् झलकता है, तो भी क्या मूल में वह कहीं सत्यवत् नहीं है?"

समाज से न्याय की आशा करनेवाला रञ्जन अब ईश्वर की कठोरता से हिल उठा है।

घर से आये उसे दो महीने हो गये। इस बीच में विचारों की एक आँधी में ही उसने अपने आपको उलझा रक्खा है। अनेक बार वह अपने आप पर झुंझलाया; पर अंत में एक-न-एक विचार उसके सिर पर सवार होकर नाचता ही रहा है। आज जान पड़ता है, रञ्जन उससे छुट्टी पा लेना चाहता है।

"आज जनवरी की २७ वीं तारीख़ है। सब खर्चे निपटाकर उसने बीस रुपये बचाकर रख छोड़े थे। पर आज उनमें केवल दो रुपये शेष हैं। मनीआर्डर हमेशा पाँच तारीख के लगभग आता है। वह चाहे तो तार देकर रुपया मँगा सकता है; पर पीछे कैफ़ियत कौन देगा कि अचानक ऐसी क्या आवश्यकता आ पड़ी? और उस गाँव में तार भी तो दूसरे दिन से पहले नहीं पहुँच सकता। आने में भी दो दिन लगेंगे। इस तरह चार दिन लगेंगे।...अब रात हो गई है; नौ बजने को है। कल रविवार है।...तो क्या दो रुपये में आठ दिन नहीं टाले जा सकते? लेकिन यह संकल्प कितना कष्टकर है? इधर किसी को देना नहीं है तो क्या हुआ? शायद कोई आवश्यक ख़र्च आ ही लगा, तो?"

होस्टल का नौकर चिट्ठी छोड़कर आ गया। रञ्जन ने पूछा—"चिट्ठी छोड़ आया?"

"हाँ हुजूर, छोड़ आया।"

"आज तो डाँक निकल ही चुकी है। अब तो कल निकल सकेगी।"

"हाँ हुजूर, अब कल सबेरे निकलेगी।"

रञ्जन फिर सोचने लगा—

"कल निकलेगी, सवेरे। परसों...तब...आफ़िस पहुँचेगी; फिर वहाँ उसी दिन जायगी,तब कहीं दूसरे दिन दादा को मिलेगी। फिर वह मनी-आर्डर करेंगे। इस तरह पूरा सप्ताह समझो।...तारीख़ दो को बस अचानक वह विद्यार्थी आ गया। उसके पास ओढ़ने को कम्बल न था, न पहनने को कोई गरम कपड़ा। बेचारा रोज़ जाड़ा खा रहा था। अगर उसको पाँच रुपये भी न देता, तो कैसे उसका काम चलता! उस दिन मेस के नौकर मटरू की माँ की अचानक मृत्यु हो गई। बेचारा घर जा रहा था। उसका हाथ ख़ाली था। उसको छः रुपये उसके गिड़गिड़ाने पर दे ही देने पड़े। इसी तरह रुपया घट गया। आवश्यकता पर किसी से बिना लिये काम कैसे चलेगा?—चलेगा इसी तरह कि चार-छः दिन सारा ख़र्च बंद रखा जाय।

"यह दानशीलता अब कुछ संयत करनी होगी। ख़र्चे बढ़ाना ठीक न होगा। लेकिन किया क्या जाय? संसार को देखकर आँखे नहीं फेरी जातीं। जो दीन हैं; दुखी हैं, उनकी सेवा-सहायता में यदि कष्ट होता है; तो क्या उसमें आनन्द नहीं मिलता! उपकार मानकर कौन उपकार करता है? जो सहायता पाता है; उसका यह अधिकार है कि वह सहायता पाये। जो सहायता करता है, उसके जीवन का यह नशा है—सुख है। अतः उसकी यह आवश्यकता है कि वह असहायों की सहायता करे। और जब तक उसमें शक्ति रहेगी, वह अपने जीवन के आनन्द के लिये वैसा करेगा ही। और वह, जो सब कुछ हमसे करवाता है, जो यह सब देख-देखकर मुसकराया करता है, वह अन्तर्यामी ही जब सहायक के मन की प्रेरणा का सूत्रधार होता है, तब हम क्या करते हैं—क्या कर सकते हैं? ओह! मनुष्य कितना बँधा हुआ है!"

सोचते-सोचते रञ्जन ने किवाड़ बन्द कर लिये।

[४]

मुलुआ जाति का अहीर है। मंगलपुर (कानपुर) के निकट लछमन-पुरवा में रहता है। उसकी पत्नी है और एक कन्या। पत्नी की आँखें

चेचक से जाती रही थीं। कन्या का ब्याह हो चुका था। निकट के गाँवों में समर्थ किसानों तथा ज़मीदारों के यहाँ मेहनत-मज़दूरी करके वह अपना पेट पालता आया है। इधर दो महीने से उसे गठियावात ने घर लिया है।

उस दिन जब वह लड़की घर लौटकर आई; तो अपने बप्पा से बिहँसती हुई बोली—"बप्पा; आज मैं आठ पैसे ले आयी, ये आठ पैसे!"

"ये आठ पैसे" - कहते हुए रधिया अपनी मुट्ठी खोलकर पैसे दिखाने लगी। उसके मैले धूलभरे बाल इधर-उधर लहराने लगे। धोती उसने कन्धे पर छोड़ ली। उसे पुलक-प्रसन्न देखकर मुलुआ के चेचक से भरे हुए गाल बढ़ी हुई दाढ़ी में से खिलकर फैल से गये। बोला—"तो क्या पैसे का तीन पाव ही लगाया था?"

"न-अ-बप्पा" कहती और पैसे-भरी बन्द मुट्ठी बजाती हुई रधिया बोली—"एक बाबू सामने आ गये। मैंने कहा–बथुआ ले लो बाबू, बथुआ।"

उन्होंने कहा—"मैं तो पहले दूसरे से ले चुका।"

इस पर पहले तो मैं चुप रह गयी; फिर तुरन्त मेरे मुंह से निकल गया—"तो क्या हुआ, मुझसे भी थोड़ा-सा ले लो। बड़ा बढ़िया है।"

"उन्होंने पूछा—"तू कहाँ रहती है? तेरे साथ और कौन है?" मैंने कह दिया—"मैं अकेली आई हूँ। बप्पा बीमार हैं, अम्मा अन्धी!" सच जानो बप्पा वे यह सुनकर बड़े दुखी हुए। तुरन्त दो पैसे मेरी बथुआ की झोली में छोड़कर चल दिये। मैंने बहुतेरा कहा—"अपना बथुआ तो लिये जाओ...।" पर वे लौटे नहीं! रूमाल निकालकर उन्होंने अपनी आँखों से लगा लिया। बड़े अच्छे थे वे बप्पा, बड़े सुघर, जैसे अपने घर के बड़े भारी रईस हों।"

मुलुआ ऊपर की ओर देख हाथ जोड़कर बोला—"ये पैसे हम लोगों की मदद के लिये भगवान् ने भेजे हैं। मैं बूढ़ा हो गया, इस दुनियाँ में मुझे ऐसा दयावान आदमी अभी तक नहीं मिला।...... सोचता था—अगर आज तेल न आया, तो मालिश कैसे करूँगा! सो जानो

भगवान् ने मेरे मन की जानकर उन बाबू को भेज दिया। राम करे उनकी हजार बरिस की उमिर हो। अरे हाँ, हम गरीबों के पास असीस के सिवा और क्या है!...अच्छा, तो अब छः पैसे का तो बाजरा ले आ, एक पैसे का सरसों का तेल और एक पैसे का गुड़। बाजरे की ताजी रोटी में जरा गुड़ मिलाकर खूब मीस देना, मलीदा बन जायगा। फिर मज़े से मुसुर-मुसुर उड़ाना। जरा-सा मुझे भी दे जाना।"

"आज मलीदा खाने को मिलेगा। रे-रे!" कहती हुई बारम्बार रधिया आँगन-भर में उछलने-कूदने लगी।

रधिया की माँ एक ओर बर्तन मल रही थी। बाप-बेटी की बात-चीत वह सुन न सकी थी। रधिया को खुश देखकर वह वहीं से पूछने लगी—"क्या है री?—क्या बात है? अरी मुझे भी तो बता जा आके।"

प्रसन्न रधिया बोली—"एक पैसे का गुड़ लाऊँगी और मलीदा उड़ाऊँगी। बस, यही बात है।"

[५]

मुलुआ दरवाज़े पर धूप में चारपाई डाले पिंडुलियों में तेल मल रहा था। अचानक "पाँच रुपये का मनीआर्डर है"—कहता हुआ पोस्टमैन उसके पास आ पहुँचा। मनीआर्डर की बात सुनकर आश्चर्य के कारण मुलुआ के मन की दशा उस पुरुष की-सी हो गई, जो स्वप्न में पर लगाकर आकाश में उड़ने लगा हो। इच्छा हुई, पोस्टमैन से कह दे—"नहीं दादा, मेरे कुटुम्ब क्या, बाप-दादा के बंधु-बांधवों में भी कोई ऐसा नहीं, जो मेरे पास मनी-आर्डर भेजने लायक़ हो। किसी दूसरे का होगा।" पर फिर सोचा—"जब भगवान् की दया मेरे ऊपर हुई है, किसी ने मेरे पास (भूल ही से सही) भेज ही दिये हैं पाँच रुपये, तो ले लेने में क्या हर्ज है! न लेने से कहीं भगवान् बुरा न माने। अभी उस दिन रधिया को किसी बाबू ने दो पैसे यों ही दे दिये थे। इसी तरह किसी ने ये रुपये भी भेज दिये होंगे।......हाँ, अच्छी याद आयी, उस दिन इधर ही से सरकार के छोटे भाई भी तो निकले थे। साथ में उनका नौकर भी था। कैसे प्रेम

से बातें करते थे। पूछने पर मैंने कहा—"गुजर! गुजर भगवान् कराता है। घर में दाना हुआ, मजूरी कहीं लग गयी, चार पैसे पा गया, तो दो दिन खाने को हो जाता है। नहीं हुआ, तो बिना खाये भी रह जाता हूँ। रधिया के लिये कहीं से एक-दो रोटी माँग लाता हूँ। उसे बिना खिलाये तो यह पापी आत्मा मानती नहीं! हम दोनों तो भूखे रहने के अभ्यासी हो गये हैं! पर यह बच्ची ठहरी। यह तो भूखी रह नहीं सकती। पर कभी-कभी जब कहीं ठिकाना नहीं लगता, तो वह भी रोते-रोते सो जाती है!" मेरे इतना कहने पर वे बड़े दुःखी हुए! उनकी आँखों से टप-टप आँसू गिरने लगे। ..कहीं उन्हींने मनीआर्डर न भेजा हो!"

एक क्षण में मुलुआ ये सब बातें सोच गया। फिर पूछने लगा—"कहाँ से आया है भैया? किसने भेजा है?"

पोस्टमैन ने जेब से--फटे कागजी केस से--पुराने ढँग का एक चश्मा निकालकर आँखों पर चढ़ा लिया। दो मिनट मनीआर्डर फ़ार्म को अच्छी तरह देखकर उसने उत्तर दिया—"बनारस से आया है। भेजने-वाला कोई अरुण है। जान पड़ता है,वह नगवा के कालेज में पढ़ता है।"

मुलुआ ख़ुशी के मारे सदेह हँसते-हँसते बोला -"हाँ-हाँ, वही बाबू होंगे, वही। अच्छा भैया, लाओ। अँगूठा की निसानी लगायी जायगी! हाँ, वही तो। दो-चार बार ऐसा मौका आ चुका है। ठाकुर साहब का मकान जब बनता था, तब हफ़्तावार चिट्ठा बँटता था। तभी निसानी-अँगूठा होती थी। और भी दो-एक-बार। अब और ज़्यादा तुमको क्या बताऊँ?...गवाही? गवाही के लिए दिनुवाँ ग्वाला को बुला लो भैया। वह पास ही रहता है।...अरे कहाँ गयी री रधिया राँड़? जान पड़ता है, इस समय खेलने निकल गयी है।...भैया, देखते तो हो, तीन महीने से भी ऊपर हुआ, चारपाई से लगा हूँ। दो दिन से कुछ सेहत है। उठा तक नहीं जाता था। अब तो खड़ा हो लेता हूँ। पर चला अब भी नहीं जाता भैया। दो पैसे तुम भी ले लेना। तुम्हीं उसको बुला भी लो।... अरे हाँ, हमारे भाग से तुमको भी दो पैसे मिल जायँगे!"

पोस्टमैन पासवाले मकान की ओर दिनुवाँ को बुलाने चल दिया। अब मुलुआ आकाश की ओर देखता हुआ दोनों हाथ जोड़कर कहने लगा—"भगवान्! तुम्हारी लीला न्यारी है। दीनानाथ! तुम धन्य हो! प्रभु, तुम घट-घटवासी हो! क्या मेरे भीतर की बात तुमसे छिपी है? अरे, इतना तो कर देते कि मेरी रधिया...।" मुलुआ इस प्रकार प्रार्थना करते हुए आनन्दाश्रु गिराने लगा।

पोस्टमैन दिनुवाँ को ले आया। मुलुआ का बायां हाथ पकड़कर उसके अँगूठे को काली स्याही के पैड में घिसने लगा। मनीआर्डर-फार्म पर निशानी-अँगूठा तथा गवाही हो जाने के बाद मुलुआ को पोस्टमैन ने चार रुपये पन्द्रह आने दे दिये। काली और सफ़ेद मिश्रित खिचड़ी मूछों तक हँसते हुए मुलुआ रुपये-पैसे सँभालकर बोला—"इनाम का एक आना तुमने अपना ले लिया न? चलो, एक आना ही सही।... जाते हो! अच्छा भैया, पाँव लागों!"

मुलुआ ने उन रुपयों-पैसों को मस्तक पर लगाया, फिर आकाश की ओर हाथ जोड़कर आनन्दाश्रु गिराते हुए बोला—"भगवान् तुम्हारी लीला!"

[६]

दस वर्ष इसी तरह बीत गये।

रज्जन अब देरापुर (कानपुर) का तहसीलदार हो गया है। सपरिवार वह वहीं रहता भी है। उसके ज्येष्ठ-भ्राता मक्खनलाल अपने गाँव पर ही रहते हैं। माँ का देहान्त हो चुका है। तीन वर्ष से लगान वसूल नहीं हो रहा। पर मालगुज़ारी तो अदा ही करनी पड़ती है। मक्खनबाबू ने कई बार रज्जन से कुछ रुपया देने के सम्बन्ध में कहा, पर रज्जन कुछ न दे सका। वह विनम्र भाव से बोला—"दादा, तुम तो देखते ही हो सवा दो सै ही तो महीने में आते हैं। सो भी जैसे आते हैं, वैसे ही उड़ जाते हैं। बल्कि कभी-कभी तो अपनी ज़रूरत भर के लिए भी रुपया नहीं रह जाता, तुमको कहाँ से दूँ!"

मक्खन से न रहा गया। वर्षों का भरा हुआ क्षोभ आज वे रजन से प्रकट किये बिना न रह सके। बोले —"जानते हो, तुम्हारे पढ़ाने में कितना रुपया लगाये बैठा हूँ? पूरे दस हज़ार रुपये लुटा चुका हूँ! किस आशा पर?—यही सोचकर न, कि किसी दिन जब तुम पढ़-लिखकर किसी ऊँचे पद पर होगे, तो एक साल में इतना रुपया फेंककर अलग कर दोगे। पर देखता हूँ,पद तुमको ऊँचा मिल भी गया, तो भी घर की ओर तुमने ध्यान नहीं दिया। तुम्हारी जगह पर कोई और होता, तो तीन वर्ष में न जाने क्या-से-क्या करके दिखा देता! इधर तुमसे सुन रहा हूँ कि अपना ही पूरा नहीं पड़ता। तुम मुझसे इतना झूठ बोलते हो! तुम्हें शर्म आनी चाहिये! अरे, क्या हज़ार रुपये महीने की भी तुम्हारी मासिक आय न होगी! क्यों मेरी आँखों में धूल झोंक रहे हो?"

रजन माँ के साथ अकेला रहता है। विवाह अभी तक नहीं कर सका। जैसा विवाह वह करना चाहता है, वैसा जब तक न हो तब तक...। फिर माँ की रुचि का ध्यान। यों विवाह न भी करे, तो क्या! शरीर का धर्म मन के अनुसार चलता है। उसको इतनी छुट्टी कहाँ कि इस विषय को अधिक महत्व दे। जिनके विवाह नहीं होते, क्या वे सदा और सभी तरह दुखी ही रहते हैं? इसके सिवा आदर्शों के पालन का सुख क्या कम बड़ी चीज़ है? उसके भीतर एक संकल्प उठता रहता है—"मैं आदर्शों पर मरना चाहता हूँ।—क्योंकि मैं कुछ करना चाहता हूँ। आदर्शों की उपेक्षा करके मैं सुख की कल्पनाओं के साथ समझौता नहीं करूँगा।"

रजन आँखों से चिनगारियाँ उगलते हुए बोला—"बस दादा, अब आगे कुछ न कहना! कोई किसी के लिए कुछ नहीं करता। आपने मेरे लिए जो कुछ किया, वह आपका कर्तव्य था। मैंने जो कुछ अपने पढ़ने में आप से ख़र्च कराया, उसका मुझे पूरा अधिकार था; क्योंकि मैं अपनी रियासत में आधे का हक़दार हूँ। आप बीस हज़ार सालाना

मुनाफ़े की रियासत के स्वामी बने बैठे हैं।—सफ़ेद और स्याह जो चाहते हैं, करते हैं। क्या मैं कभी हिसाब देखने बैठता हूँ ? आपको अपनी हुकूमत, अपनी शान, अपना वैभव बढ़ाने का शौक है। मुझे भी जो कुछ ईश्वर ने दिया है उस पर संतोष के साथ जीवन बिताने, भरसक ग़रीब, अनाथ और दीन-दुखियों की सेवा-सहायता करने और उनको मानवोचित अधिकारों के प्रति जागरूक बनाने का शौक़ है। कभी सोचा है कि मृत्यु भी जीवन को तौलने के लिए एकाएक आ पहुँचती है ? आज हम अपने स्वामी का काम बिगाड़ें, अन्याय और अत्याचार से अपनी जेबें गरम करें—अपनी रियासत बढ़ावें, तो कल जब मृत्यु का सामना होगा, तब, उस वक्त, उसकी ख़ातिर कैसे करेंगे ? कौन-सा धन मुझे उसके आगे खड़ा रखने में बल देगा ? यह छीना-झपटी, यह शान-शौक़त, कितने दिन के लिए है ?...फिर आप देखते हैं कि मेरे पास इतना पैसा ही नहीं बचता कि आपको भेज सकूं ! पर आप यह क्यों नहीं देखते कि भगवान् की कृपा और ममता से,दीन-दुखियों की आशीष-वार्ताओं और मंगल कामनाओं की प्रचुर सम्पत्ति तो मैं अपने कुटुम्बियों के लिए संग्रह किये दे रहा हूँ। देखता हूँ, तीन वर्ष से मालगुज़ारी अदा करने में आपको कठिनाई पड़ रही है। अच्छा और जो पिछले बीस वर्षों में आपने अपनी ज़मीन दूनी कर ली है, सो ! इसका साफ़-साफ़ मतलब यह हुआ कि आप चाहते हैं—सदा हाथ ही मारता रहूं; कभी दाँव ख़ाली न जाय। आप की इस इच्छा के भीतर क्या है, कभी सोचा है ! यह हिंसा है—इसी को हिंसा कहते हैं। शत-शत और सहस्र-सहस्र आदमियों के परिश्रम की कमाई—उनके पेट की रोटियाँ—काट-काट कर, उनकी अपनी और कुटुम्बियों की आकांक्षाओं को मिट्टी में मिला-मिला कर, जो लोग जायदाद, महल और मिलें खड़ी करते हैं, उनको मैं किसी ख़ूं-ख़ार हिंसक से कम नहीं समझता।...सो दादा, आप ज़रा दूर तक सोचें, तो आपको पता चलेगा कि जो कुछ हो रहा है, समय की गति-विधि जैसी देख पड़ रही है, उसमें युग की माँग का ही हाथ

है। कोई उसकी दिशा को बदल नहीं सकता। जो कुछ और जैसा कुछ सामने आवे,निबाहते चलो।-जो ईश्वर दिखलावे,देखते चलो,मैं तो...।"

इसी समय मक्खन ने बीच में बात काटते हुए कहा—"तुमसे मैं व्याख्यान सुनने नहीं आया। अगर मैं ऐसा जानता कि इतना पढ़ लेने के बाद तुम मुझे उपदेश देने लगोगे, मेरा आदर न करके मुझे जानवर समझोगे और इस तरह मेरी सारी आशाओं पर पानी फेर दोगे, तो मैं ऐसी ग़लती न करता। मुझसे भूल हुई। अब मैं जाता हूँ। जो तुम्हारे मन में आवे सो करो। मुझसे-तुमसे कोई मतलब नहीं।"

और वास्तव में वे लौट गये।

[७]

मुलुआ मर चुका था। उसके घर में अब रधिया अपने पति जानकी के साथ रहा करती थी। उसकी माँ का देहान्त हो चुका था। वह अब पहले से सुखी थी। जानकी एक हल की खेती बड़े मज़े से कर लेता था। उसके दो छोटे-छोटे बच्चे भी थे। रधिया उन फूलों-से बच्चों के साथ हँसती-खेलती हुई अपनी गृहस्थी मज़े से चला रही थी।

समय ने करवँट ली।

इधर दो वर्षों से खेती में कुछ भी पैदावार नहीं हो रही थी। जो कुछ होती थी, वह खलिहान से उठते ही सीध बीजकी अदायगी में चली जाती थी। जानकी ने पिछले दो वर्षों में रधिया के गहने बेचकर किसी तरह थोड़ा लगान अदा किया और अपने खाने-कपड़े का ख़र्चा चलाया। पर इस वर्ष उसका निर्वाह होना कठिन हो गया। जो लगान बक़ाया रह गया था, वह भी वह न दे सका। फल यह हुआ कि ज़मींदार ने उस पर बेदख़ली का दाबा दायर कर दिया।

मामला तहसीलदार साहब की अदालत में पेश था। जानकी कह रहा था—"सरकार, ये खेत मुझे अपने ससुर मुलुआ से मिले थे।" अभी वह इतना ही कह पाया था कि तहसीलदार साहब ध्यान से उसकी ओर देखने लगे। जानकी कहता जा रहा था—"पहले खेतों में इतनी पैदावार

होजाती थी कि लगान अदा करने में बहुत ज़्यादा दिक़्क़त नहीं पड़ती थी। यों तो सभी किसानों के खेतों में पहले से अनाज की पैदावार घट गयी है; पर मेरे खेतों में तो पैदावार बिलकुल ही नहीं हुई। फिर भी स्त्री के गहने बेंचकर मैं लगान अदा करता रहा। माना कि पूरा वह अदा नहीं हुआ। पर मैं तो इन खेतों को उसी साल छोड़ देता। लेकिन मैंने सोचा—"ये खेत ही अब उन (ससुर जी) की निशानी रह गये हैं। अपने जीते जी इनको कैसे छोड़ूं! पर अब अगर लगान न घटा, तो मजबूर होकर छोड़ना ही पड़ेगा। मैं अकेला क्या, हुज़ूर देख लेंगे, एक-न-एक दिन सभी किसानों का यही हाल होगा।"

खेतों का अस्थायी बन्दोबस्त हो रहा था। तहसीलदार साहब ने काग़ज़ात देखकर जानकी की बात पर ध्यान देकर लगान कम कर दिया। और जानकी के मुंह से निकल गया—"सरकार की जय हो।"

इजलास से उठकर जब तहसीलदार अपनी गाड़ी पर बँगले की ओर जाने लगे; तो रास्ते में जानकी देख पड़ा। गाड़ी खड़ी करके उन्होंने उसको अपने पास बुलाकर पूछा—"अब तो तू ख़ुश है न! लगान मैंने घटा दिया।"

जानकी तहसीलदार साहब के पैरों पर गिर पड़ा। बोला—"सरकार ही तो हमारे माता-पिता हैं।"

रञ्जन सोचने लगा—"यही हमारा देश है, यही हमारा स्वरूप, यही हमारी शिक्षा और यही हमारा अधिकार! एक विश्व है और उसकी सभ्यता, उसका संघर्ष और उसकी उठने-गिरनेवाली राजनीति। और हमारी स्वतंत्रता की लड़ाई जिस वर्ग से उठनी चाहिये, उसकी यह स्थिति है!"

निराशा और असन्तोष के आघात से वह तिलमिला उठा। एक विष-सा उसके भीतर फैलने लगा। किन्तु उसी क्षण उसे स्मरण आ गयी ईश्वर की सृष्टि। तब भीतर की जलन घुलने लगी। मिठास ऊपर

उठने लगी और मुसकराते हुए वह बोला--"लेकिन पिछला बक़ाया लगान तो देना ही पड़ेगा, वह कैसे देगा?"

तहसीलदार साहब की ओर विस्मय से जानकी इकटक देखने लगा। फिर कुछ सोचने की मुद्रा में उसने उत्तर दिया--"सरकार, गैया बेच डालूंगा।"

रञ्जन अनुभव कर रहा है--"ये लोग इसी तरह अपना सर्वस्व लुटा देते हैं। कब इनमें चेतना आयेगी? लेकिन बेईमानी का नाम तो चेतना नहीं है। कर्तव्य के क्षेत्र में आहुति भी चेतना का ही रूप है। आदर्शों के लिए मरने और मिटनेवाली जाति भी कहीं नष्ट होती है!"

तब उसनेकहा--"एं! गैया बेच डालेगा, तो बच्चे दूध के बिना भूखों न मरेंगे!"

जानकी देखने लगा कि तहसीलदार साहब जेब में हाथ डाल रहे हैं। आश्चर्य, दैन्य, कौतुक और हलचल के भावों से ओतप्रोत वह बराबर उनकी ओर देखता रहा।

रञ्जन पर्स से दस-दस के तीन नोट निकालकर उसे देते हुए बोला--"ऐसा न करना। बक़ाया लगान इन रुपयों से चुका देना। समझा न!...और यह बात किसी से कहना नहीं, अच्छा!"

चकित-स्तम्भित जानकी तहसीलदार साहब की ओर देखता रहगया! कभी वह अपने भीतर कोई प्रश्न करता, कभी आप ही वह उसका उत्तर भी दे लेता। आख़िर कुछ वाक्य उसके भीतर आपही बनते और मिट जाते।--"ये हाकिम हैं कि भगवान्? ये कौन हैं? ये नोट हैं, रुपया हैं, या ख़ाली काग़ज़ के टुकड़े? यह सब सपना तो नहीं है? हमारे सब हाकिम ऐसे क्यों नहीं हैं? ये दारोग़ा, ये डिप्टी, ये कलक्टर, ये ..। क्या ये सब ऐसे नहीं हो सकते?"

प्रश्न ठीक जगह से उठते हैं पर उनका समाधान किस सीमा तक होता है? और समाधान न होने पर विद्रोह का बल उनके पास कहाँ है?

उधर गाड़ी पर जाता हुआ रजन अपने संकल्पों को बराबर दोहरा रहा था—"जो दिखाई नहीं देता, उसी को देखता रहूँ; जो सुनाई नहीं पड़ता, उसी को सुनता रहूँ; जिनको कठिनाई से जान पाता हूँ; उनको सरलता से जान पाऊँ, जो स्मरण नहीं आते, किन्तु जिनका स्मरण ही ईश्वर की इस अखिल सत्ता की स्वीकारोक्ति है; जो पास कातर हो उठते हैं, उनको गले लगाता रहूँ, और स्मृति के अगाध सागर में जिनकी एक हिलोर तक आज दुर्लभ है, उन्हीं में स्वयं लहर बनकर लहराता रहूँ--हे परम पिता, तू मेरे जीवन-दीपक में ऐसी ही ज्योति जलाये रख !"

गाड़ी चली जा रही है। और बारह वर्ष पूर्व की एक घटना रजन के सामने है:—

एक नन्हीं-सी बालिका, तरकारी वेचनेवाले काछियों के बीच में चुपचाप बैठी हुई उसको सामने देखकर कह रही है—"बाबू, बथुआ ले लो बथुआ !"

उसका पिता बीमार था, उसकी माँ अन्धी।

सम्बन्ध

नरायन आज काम पर नहीं गया। कुछ देर तक तो वह अपनी खाट पर यों ही पड़ा रहा। जी में एक बार आया चलूं कामपर। पर फिर कुछ सोचकर रह गया। एक बार उसने उठने का भी प्रयत्न किया, लेकिन उसके उस प्रयत्न को क्रिया का रूप नहीं मिला। एक लहर-सी उठी और आत्मसात् हो गई। नरायन कुछ सोचता ही रहा। सोचते-सोचते उसे नींद आ गई। वह सो गया।

नरायन जाति का लोधी है। अभी उसकी अवस्था बाईस वर्ष की है। रेख अच्छी तरह निकल आई है। रंग साँवला, शरीर दुबला, इकहरा है। नाक लम्बी, मुंह पर बाईं ओर के गाल पर एक मस्सा भी है। गाँठ के ऊपर मोटी धोती पहने रहता है। कन्धे पर कभी एक अँगौछा पड़ा रहता बिना, कभी-कभी वही अँगौछा सिर में भी बाँध लेता है। वह तमाखू में ढुता है, इस कारण उसकी हथेली लाल रहा करती है। अकसर उसमें तो ास भी आती रहती है। खेती के कामों में वह अपने गाँव में मेहनती खा गिना जाता है। कहीं मकान बनता हो, तो गारा तैयार करने के लिये रख उसी को बुलाया जाता है। कहीं उखारी चढ़ी हो, ईख पेरकर गुड़ तैयार दो किया जा रहा हो, तो नरायन को ज़रूर काम पर रखा जायगा। चढ़ी

कढ़ाई में रस के बबूले देखकर वही यह बता सकेगा कि यह ताव राबका है और यह खरे सफेद गुड़ का।

दिन चढ़ आया, पर नरायन सोता ही रहा। अन्त में उठा। हाथ-मुंह धोकर, अँगौछे से पोछकर, गरम राख से आग की चिनगारियाँ निकालीं, चिलम भरी और पीने बैठ गया। जब चिलम पी चुका, तो फिर पयाल पर जा बैठा; पर अब की बार अधिक देर तक वह पयाल पर बैठा रह न सका। अपनी झोपड़ी में वह अकेला ही है। उठकर किवाड़ बन्द करके बाहर आया। पड़ोस में उसका साथी तिरबेनी रहता है। वह एक गोंई की खेती करता है। वह अपने बैलों को चारा डाल रहा था। नरायन को आता देखकर बोला—"आओ नरायन। कई दिन से देख नहीं पड़े। मुझे भी फुरसत न थी, जो तुम्हारी ओर जाता। आजकल तुम किसके यहाँ हो?"

नरायन बोला—"भैया, मैं तो नम्बरदार के यहाँ लगा हूँ। जब तक उसके यहाँ काम रहेगा, दूसरी जगह कैसे जाऊँगा?"

तिरवेनी—"हाँ भाई, ज़मीदार जो हैं।"

नरायन—"आज ही काम पर नहीं गया हूँ। तबीयत कुछ सुस्त है।" कल जाऊँगा, तो कहेंगे—"तुम्हारे न आने से बड़ा हरजा हुआ!

तिरबेनी—"ये लोग बड़े चतुर होते हैं। जब रुपये का काम लेते हैं, तो तीन आने देते हैं। ऐसा न हो, तो हवेलियाँ किस तरह खड़ी हों! सुराजवालों से ये लोग इसीलिये परेशान रहते हैं। जानते हैं न कि सुराज हो जायगा, तो मज़दूरी बढ़ानी पड़ेगी, खेतों का लगान भी कम करना पड़ेगा।"

नरायन—"यह तो तुम ठीक कहते हो।......आजकल तुम्हारा यह बड़ा बछड़ा कुछ दुबला हो रहा है। कुछ दाना बढ़ा दो न?

तिरबेनी—दाना कहाँ से बढ़ायें, जानते तो हो जैसी कुछ हालत अपने खाने को दाना है नहीं; बैलों को कहाँ से आये। बिझरा मो[illegible] आता है।

नरायन—"सबका यही हाल है, किया क्या जाय ?"

तिरबेनी—"चिलम उधर वह रखी है, यह रही तमाखू ।"

नरायन चिलम लेकर तमाखू सुलगाने लगा । तैयार हो जाने पर उसने चिलम तिरबेनी के आगे बढ़ा दी ।

तिरबेनी बोला—"तुम्हीं लो पहले ।"

नरायन न माना । बोला—"नहीं-नहीं, तुम्हीं लो पहले ।"

तिरबेनी बोला—वाह ! इसमें पहले-पीछे क्या ? शुरू करो, नाहीं-नूहीं ठीक नहीं है ।

नरायन ने दो-चार-फूंक लगाकर चिलम फिर तिरबेनी के हाथ में दे दी ।

[२]

तिरबेनी से इधर-उधर की बात करके नरायन फिर घर पर आ गया । वह सोचने लगा—"अब पहुँच गई होगी—अब तक क्या कभी की पहुँच चुकी होगी । बच्चा रोता होगा । कहीं उसे बुख़ार न आ गया हो ! रास्ते में कितनी तकलीफ़ हुई होगी ! बैलगाड़ी में कभी-कभी बड़ी दौचियाँ (धक्क) लगती हैं । उसकी तबीयत कहीं ख़राब न हो गई हो ! कहीं जुर (ज्वर) न आ गया हो । ज़रूर आ गया होगा । कल ही से खाया नहीं गया था । मैंने जब कभी उसकी ओर देखा, आँखे भरी हुई मिली । मुंह नीचे कर लिया, कहीं मैं आँसू न देख लूं ।

"कौन अब रोटी बनाने बैठे, भूख ही कौन ऐसी बहुत लगी है; लेकिन बिना खाये भी तो रहा न जायगा । खाना तो पड़ेगा ही । मन और पेट में दुश्मनी जो ठहरी । फिर मन का दुख पेट क्यों बटाने लगा ! तो खाना तो पड़ेगा ही । फिर भी आज खाने को जी नहीं चाहता । उँह ! कौन खाये—कौन बनाये ! लेकिन अच्छी याद आई । शायद बासी रोटियाँ रखी हों । ज़रूर रखी होंगी । वह रख गई होगी । जानती है न, मैं एक-दो दिन तो खाना बनाने से रहा । वाह ! ख़ूब याद आई ।"

मन-ही-मन पुलकित होता हुआ नरायन रसोई में गया। देखा, काठ के बर्तन में कुछ ढका हुआ रखा है। चलो, निश्चय हो गया कि रोटियाँ रखी हैं। नरायन घर को बन्द करके पास के तालाब में नहाने चला गया। वैसे चाहे देर तक नहाता,पर आज नहाना भी उसे सुहाया नहीं। दो मिनट में बाहर निकल, धोती बदली और लौट पड़ा। घर से चलते तालाब में नहाते, धोती पछारते और घर की ओर लौटते हुए वह बराबर यही सोचता रहा—"जाने उसकी कैसी तबीयत हो,जाने उसका क्या हाल हो! बुरा हो इस परिपाटी का, जो ब्याह हो जाने के बाद भी लड़की फिर अपने मायके जाय! यह रिवाज अच्छा नहीं! न स्त्री चाहती है कि वह घर जाय, न पुरुष चाहता है कि वह उसे कहीं भेजे, फिर भी माता-पिता उसे बुला ही लेते हैं! किस पर क्या बीतती है, इसका उन्हें क्या पता! कौन जानता है, मेरे जी पर क्या बीत रही है! अब की बार गई सो गई, अब से मैं तो न भेजूंगा। मुझे यह बात पसन्द नहीं है।"

नरायन यह निश्चय करते हुए घर पहुँचा। उस समय दोपहर के दो बजे का समय हो रहा था। भूख खुलकर लग आई थी। झट से वह चौके में जा पहुँचा। काठ के बर्तन से उसने बाजरे की दो रोटियाँ निकालीं। कल का बासी चने का साग कटोरे में रखा था। नरायन उस कटोरे में साग देखकर चकित हो गया। सोचने लगा—"धन्य है स्त्री का यह स्नेह! कल से ख़ुद तो कुछ खाया नहीं. और दोनों जून के खाने-भर को मेरे लिये बन्दोबस्त कर गई!" नरायन का रोम-रोम उस समय अपनी नवभार्या की मुखश्री का स्मृति-संदर्शन करके उत्फुल्ल हो उठा। सोचने लगा—"अभी उसकी उमिर ही क्या है! बात करते-करते खिल-खिल करने लगती है। नई धोती, नई चूड़ियाँ, नया सलूका उसके बदन पर कैसा खिलता है! मेरी बिरादरी में तो कभी ऐसी सुन्दर बहू कहीं आई नहीं। बेचारी मुझ जैसे ग़रीब के पाले पड़ गई, कहीं किसी अमीर के घर में पहुँचती तो रानी-सी दमकती! हँसते हुए उसके

मोती-जैसे दाँत कैसे अच्छे लगते हैं ! आज ही तो गई है, अभी एक दिन भी पूरा नहीं हुआ। फिर भी जाने कैसा लगता है !"

नरायन बाजरे की उन सूखी रोटियों को चने के बासी साग के साथ बड़ी मौज के खा रहा है। दो रोटी खा चुकने पर उसने एक रोटी और उठा ली। रोटी सूखकर लकड़ी हो गई है, फिर भी उसे बड़ी मीठी लग रही है।—"पर साग का क्या कहना! ऐसा अच्छा साग न कभी पहले उसके घर बना था, न आगे कभी बनेगा।" जान पड़ता है, नरायन यही सोचकर शाम के लिये भी उसे छोड़ देना चाहता है ! लो, सचमुच उसने ऐसा ही किया। आधा खाया, आधा शाम के लिये छोड़ दिया। शाम के लिये भी काफ़ी खाना बच गया। नरायन ने तीसरी रोटी खाकर, लोटाभर पानी पीकर, डकार ली। मन-ही-मन बोला—"हाँ, अब ठीक है, पेट भर जाने की ख़बर भी मिल गई।"

खाना खाकर नरायन फिर तमाखू पीने बैठ गया ! आग नहीं थी, पड़ोस से ले आया। चिलम सुलगाई। तम्बाकू से नरायन की बड़ी मैत्री थी। आठ बरस की उमर से ही वह इसका सेवन करता आया है। तब माता-पिता बने थे। लाड़-प्यार के दिन थे। आह! वे दिन भी नरायन के बड़े अच्छे थे। जब उसका ब्याह हुआ था, उसकी माँ फूली-फूली फिरती थी! उसके बप्पा कितने प्रसन्न देख पड़ते थे। वे नम्बरदार के यहाँ से सोने का कण्ठा उसके पहनने को ले आये थे। कण्ठा पहनने पर वह उस दिन कैसा अच्छा लगता था !

नरायन के सामने पन्द्रह वर्ष पहले का संसार घूमने लगा। तमाखू पीने के बाद वह फिर पयाल पर लेट गया। अपने उसी सोने के संसार की वह याद करने लगा--

"आह ! कितने अच्छे वे दिन थे। कहीं कुछ भी काम नहीं करना पड़ता था। अपने ही खेल थे। बप्पा कह देते—"उठ रे नरायन, चला तो जा बम्बा-पारवाले खेत पर। बाजरा पका खड़ा है, चिड़ियाँ चुन जायँगी।" मैं गुफना लेकर चला जाता था। घंटे-दो-घंटे

खेत रखाकर मैं लौट आता था। घर आता तो वह मुझे बर्तन मलते हुए मिलती! मैं इसी घर के एक कोने में बैठा हुआ उसका बर्तन मलना, उसके शरीर के अंगों का चलना और मौक़ा पाकर घूंघट के कोने से बड़ी-बड़ी चंचल आँखों की कनखियों से मेरी ओर निहारना देखा करता! आँखों-ही-आँखों में वह मुसकरा देती और मैं निहाल हो जाता। रात होने पर अकेले में वह मिलती तो कहती—"बड़े हज़रत हो! इसी ताक में बैठे रहते तो कि कब मैं तुम्हारी ओर देखूँ, और कब तुमको मुस्कराते हुए पाऊँ! अरे, इतना तो ख़्याल रखा करो कि अम्मा क्या कहेंगी?" उत्तर में मैं कह उठता था—"उँह, कहेंगी, तो कह लेंगी। उनके कहने का क्या बुरा मानना!" आज न माँ हैं, न बप्पा! आज अगर वे होते, फिर चाहे वे मुझे गालियाँ ही देते-रहते, पर इस समय कितना अच्छा लगता! अपने नाती-नातिन को खिलाकर वे कितने सुखी होते!"

ये बातें सोचते-सोचते नरायन की आँखों से आँसू गिरने लगे। बड़ी देर तक वह सिसकियाँ भरकर रोता रहा!

रुदन मानवात्मा का सहचर है। जब जीवन की सरिता सूखने लगे, जब उसका उछल-उछलकर नाचना अन्तर्हित हो जाय, तब, जब न कोलाहल रहे, न लप-झप; न उछल-कूद रहे, न मौन रँगरेलियाँ, न श्यामघन रहें, न झंझावात, न मयूर बोलें, न कोइलिया कूकें, न रसाल टपकें, न महुआ गदराएँ, तब रोना भी न हो, तो और हो क्या?

नरायन जब रो चुका, तो उठकर तिरबेनी के घर चल दिया। वह चलता जाता है और सोचता जाता है—"आह! वह दिन भी कैसा अच्छा था! उस दिन उसने पहले-पहल खाना बनाया था। बहन चमिलिया भी यहीं थी। उसने उसे धोखा देना चाहा था। उसने कहा था—"ये चावल करायल में पड़ेंगे। ये पकौड़ियाँ खीर में। गुड़ करायल में छोड़ा जायगा और नमक खीर में। हमारे यहाँ की रिवाज ऐसी ही है! सुना भाभी, हमारे यहाँ खाना इसी तरह बनता है!"

"उसने झट से जवाब दिया था—"बहुत अच्छा ननदजी, तुम जब अपने उनके घर—समझती हो न ? उन्हीं के !—घर जाना, तो ऐसा ही करना; क्योंकि यह रीति तुम्हारे इस घर की है। परन्तु मैं तो वही करूँगी, जो मेरे घर की रीति से होता है। तुम्हारी इस रीति को जीजाजी बहुत पसन्द करेंगे—तुम्हें ख़ासतौर से प्यार करेंगे। समझती हो न ?"

"ननद-भौजाई के इस सवाल-जवाब की चर्चा मुहल्ले-भर में फैल गई थी। अम्मा अपनी बहू की इस मसख़री पर कैसी प्रसन्न हुई थीं ! हाय ! वे दिन न जाने कहाँ चले गये !

उस समय दिन डूब गया था। तिरबेनी के यहाँ अलाव लग चुका था। चारों ओर से लोग घेरकर बैठे हुए थे। नरायन को आता देखकर लोग बोल उठे—"आओ नरायन, बैठो। कहो, अच्छे तो हो ?"

नरायन—"अच्छा ही हूँ भाई ! किसी तरह ज़िन्दगी काटनी है, और क्या !"

तिरबेनी बोला—"ज़िन्दगी क्या काटनी है, घर के ढाई प्राणी हो। मज़े से कमाते-खाते हो, किसी का छदाम लेना-देना नहीं। आजकल के ज़माने में और क्या चाहिये !"

नरायन—"सो तो ठीक है। फिर भी मैंने कुछ और मतलब से यह बात कही थी।"

सरजू बोला—"अपना मतलब भी कह जाओ।"

नरायन—"मैं सोच रहा था कि जिन लोगों को रोज़ ही कुआँ खोद-कर, पानी निकालकर, प्यास बुझानी पड़ती है, क्या उनकी ज़िन्दगी भी कोई सुख की ज़िन्दगी है ?"

मोहन बोला—"ठीक कहते भाई !"

नरायन कहता गया—"आज अगर बीमार पड़ जाऊँ, तो बच्चे और जोरू क्या खायँ ! मेरी दवा और पथ्य के लिये पैसे कहाँ से आयें ? बोलो भाई मोहन, क्या हम मज़दूर लोगों की ज़िन्दगी भी आदमी की

ज़िन्दगी है ? हम लोगों से तो पशु अच्छे, जो बीमार पड़ते हैं, तो मालिक उनके इलाज के लिए दौड़ता फिरता है !

तिरबेनी बोला—"यह तो तुम ठीक कहते हो,नरायन भाई। लेकिन एक बात है। क्या हम ग़रीब लोगों का कोई मालिक है ही नहीं ? क्या हम सब अनाथ ही हैं ? मैं पूछता हूँ कि हम लोगों पर अगर भगवान की दया,उसकी ममता, न हो;तो क्या हम लोग एक घड़ी भी आपत्ति-बिपत्ति के समय ठहर सकें ? तुमने देखा नहीं, उस दिन ठाकुर साहब का मकान गिर गया था। ठाकुर साहब और उनकी जवान लड़की तो मरी निकलीं, पर उनका तीन बरस का लड़का बेदाग़ बच गया। उसके ऊपर चारपाई आ गिरी, और उसी चारपाई के ऊपर आधी दीवार थी। उस दीवार पर से बराबर आदमी निकलते रहे। इधर-उधर भी मिट्टी का ढेर था। कहीं जरा सी साँस रह गई। उसी से बच्चे की आवाज़ सुनकर लोगों ने जो उस मिट्टी को हटाया, तो देखते क्या हैं—बच्चा रो रहा है ! भगवान को उसे बचाना था ! नहीं तो उसके ऊपर, उसकी रक्षा के लिये न तो चारपाई ही आ गिरती, न चारपाई ही उस दीवार का बोझ सम्हाल सकती, और न वह बच्चा ही बच सकता। इसी को कहते हैं भगवान की माया !"

मोहन बोल उठा—"सो तो है ही। दिहात में इतनी बीमारी होती है, सैकड़ों आदमी बीमार पड़ जाते हैं। क्या सब की दवा ही होती है ? बहुत से ग़रीब बेचारे बिना दवा के ही दो-चार दिन बाद असिल-घसिल-कर उठ खड़े होते हैं। यह सब भगवान की ही माया तो है।"

नरायन—"बस भाई यही बात है।"

सरजू बोला—"अच्छा, अब तमाखू पिलाओगे, या इसी तरह बातों में टालोगे !"

मोहन ने कहा—"नरायन को दो वह चिलम। नरायन भाई, भरना तो।"

तिरबेनी से बोला—"वह चीज़ भी है न ?"

तिरबेनीने उत्तर दिया—"हाँ, है तो एक बार के लिये। अच्छी याद दिलाई।"

तब तक सरजू बोल उठा—"क्या-क्या मैं भी जरा सुनूं। क्या बात है ?"

नरायन समझ गया था। मोहन से बोला—"सुनते हो सरजू की बातें ? कैसा बनता है ? बेचारा बड़ा सीधा है, अमिया की गुठली तक नहीं पहचानता !"

हँसी का ऐसा ठहाका लगा कि मुहल्ला-भर गूंज गया। तिरबेनी चरस ले आया। मोहन ने कहा—"नरायन को ही दो, वही इन सब कामों में उस्ताद है।"

लम्बी-सी चिलम लेकर नरायन चरस सुलगाने बैठ गया। तैयार होने पर दो फूंक पहले उसी ने उड़ाये। फिर तिरबेनी, सरजू, मोहन आदि ने बारी-बारी से ग्रहण की। अन्त में नरायन ने फिर दो फूंक खींचकर उसकी अन्त्येष्टिक्रिया की।

[४]

इसी समय गाँव के नम्बरदार का आदमी आ पहुँचा। अच्छा पट्ठा था। उसके हाथ में एक लट्ठ था। आते ही उसने दूर ही से पूछा—"यहाँ नरायन तो नहीं है।"

सरजू बोला—"है तो, यह बैठा है।"

वह आदमी—"क्यों रे नरयना, आज तू मालिक के यहाँ काम पर नहीं गया ?"

नरायनने उत्तर दिया—"मालिक, आज मेरी तबीयत ठीक नहीं रही। इसी से नहीं आ सका। कल आऊँगा।"

वह आदमी बोला—"प्लेग हो गया था कि हैज़ा ? बदमाश कहीं का ! मुझ से बातें बनाता है !"

नरायन अब जब्त न कर सका, बोला—"ज़बान सम्हाल के बातें करो ठाकुर साहब ! मैं मज़दूरी करता हूँ; सो भी रोज़न्दारी पर। मैं

कुछ उनका नौकर तो हूँ नहीं, जो आप मुझे बदमाश कह के गाली देने लगे।"

सरजू बोला--"यह बात अच्छी नहीं है ठाकुर साहब ! नरायन ठीक कह रहा है। आपका इस तरह बिगड़ना बेजा है।"

अब तिरबेनी और मोहन भी खड़े हो गये।

"अच्छा बचू, तुम्हारा यह अकड़ना देखूंगा। खाल न खिंचवा लूं तो ठाकुर का बच्चा न कहना।" कहता हुआ वह आदमी लौट गया।

यह आदमी जिसका नाम भैरोंसिंह था, सीधे नम्बरदार के पास गया। उसने कहा--"वह नरैना तो अब सीधे बात नहीं करता है। उसका दिमाग़ यहाँ तक चढ़ गया है कि वह आपको भी उल्टी-सीधी सुनाने लगा। कहता था--"मैं उनका नौकर तो हूँ नहीं जो हाज़िरी बजा कर छुट्टी माँगकर घर बैठना मेरे लिये ज़रूरी हो। नहीं तबीयत ठीक थी; नहीं आया !"

भैरोंसिंह ने सोचा था कि नम्बरदार उसको ज़बरदस्ती पकड़ बुलवायेंगे और ज़्यादा नहीं तो पचास जूते चखाने का हुक्म तो जरूर देंगे; पर नम्बरदार ने 'हूँ' कहके सिर हिला दिया। बोले--"अच्छा, अपना काम देखो।"

नम्बरदार की इस 'हूँ' में क्या है; भैरोंसिंह को उसका अन्दाज़ लगाने में देर नहीं लगी। वह सोचने लगा--"जान पड़ता है; मालिक और भी अधिक ऊँची सज़ा देने की बात सोच रहे हैं। चलो अच्छा है। सरजू के मिजाज तो दुरुस्त हो जायँगे।

[५]

पहर-भर रात तक तिरबेनी के दरवाज़े पर उसकी मंडली के लोग जमे रहे। अन्त में जब सब लोग उठने लगे, तो सरजू बोला--"किसी तरह की चिन्ता न करना नरायन ! जितने दिन रहना है, मर्द बन कर रहो। फिर हम लोग भी तो तुम्हारे साथ हैं, डर किस बात का है ?"

नरायन कुछ बोला नहीं, चुपचाप घर चला आया।

उस रात नरायन को नींद नहीं आई। कभी वह अपने स्त्री-बच्चों की याद करता, कभी भैरों की बातों की। कभी सोचता--"सचमुच भैरों को मैंने जो जवाब दिया, वह बड़ा कड़ा था। नम्बरदार ने सुना होगा, तो आग-बबूला हो उठे होंगे। न जाने वे सबेरे मेरी क्या दुर्गति करें! हाय रे मज़दूर की ज़िन्दगी!"

वह बराबर करवँट बदल रहा है। कभी उठकर बैठ जाता है, कभी फिर लेट रहता है। प्रश्न-पर-प्रश्न उसके भीतर उठते और उभरते हैं। उनका क्रम टूटने नहीं आता।

और नरायन फिर सोच रहा है—"जान पड़ता है, अब इस गाँव में मेरी गुज़र न होगी। मुझे यह गाँव छोड़ना ही पड़ेगा। तिरबेनी, सरजू वग़ैरह इतना दम-दिलासा देते हैं; पर किसी में इतनी ताक़त नहीं कि अटके पर काम आवें। कोरी शान-ही-शान है। नम्बरदार के आगे भुनगे-से तो हैं; मगर शेखी दिखाते हैं शेर की-सी! इसी तरह बात बढ़ जाती और लट्ठ चल जाता है। मगर नतीजा क्या होता है?—घर-के-घर कंगाल हो जाते हैं—गाँव-भर तबाह हो जाता है! इन लोगों के साथ से यही होना बाक़ी है।"

नरायन सबेरे उठने का आदी नहीं है। वह सदा देर से उठता रहा है। लेकिन आज वह बहुत सबेरे उठकर चल दिया। वह पहले अपनी ससुराल जायगा; वहाँ जाकर निश्चय करेगा कि कहाँ रहा जाय। बहरहाल उसने अपने गाँव को छोड़ देने का निश्चय कर लिया है।

नरायन घर से निकलकर बाहर हो गया। उसके गाँव से उसकी ससुराल को जो सड़क गई है, वह नम्बरदार के दरवाज़े से होकर जाती है। वह उसी सड़क से जा रहा था। एकाएक उसने देखा, कोई हाथ में लोटा लिये शौच को जा रहा है। "अरे! ये तो वही हैं—ख़ुद नम्बरदार!" नरायन मन-ही-मन सोचता अस्तव्यस्त हो गया। "अब बड़ी मुश्किल हुई।" उसने चदरे से अपने-आपको और भी अच्छी तरह ढक लिया। सोचा, शायद निगाह से बच जाऊँ—शायद वे धोखे में

आ ही जायँ ! किन्तु फिर भीतर से बल का संचार हुआ। सोचने लगा—"गाँव छोड़ रहा हूँ फिर भी डर रहा हूँ। यह कैसी कायरता है !"

ठीक इसी समय ठाकुर महिपालसिंह बोल उठे—"कौन है रे ?"

नरायन का लहू जैसे जम गया हो। फिर भी धीरे से उसे जवाब देना ही पड़ा—"हौं तो नरायन।"

"इतने सबेरे आज इधर कहाँ को चल दिया ?"

नरायन कुछ न बोला।

ठाकुर साहब ने फिर पूछा—"सुना नहीं ? इतने सबेरे कहाँ ?"

नरायन ने हिम्मत करके कहा—"मालिक, अब इस गाँव में मेरा रहना कैसे होगा ? दुख-सुख एक दिन सब को होता है। परसों मेरे ससुर आये थे, कल उसकी बिदा करा ले गये। साथ में छोटा बच्चा तो जाने को ही था। दिन-भर मुझे अच्छा नहीं लगा। जाने कैसा जी था। महतारी-बाप की भी मुझे बहुत याद आई। बड़ी देर तक मैं रोता रहा। मालिक, अपनी ग़रीबी के दिनों में भी मैंने बड़े सुख उठाये हैं। मेरा घर, आप तो जानते हैं, कैसा भरा-पूरा था ! कल इसी सब सोच में रहा और काम पर न आ सका। शाम को तबीयत बहलाने तिरबेनी के यहाँ चला गया था। आपका नौकर भैरोंसिंह आकर मुझसे भिड़ गया। मुझे बदमाश कहकर कहा—"बच्चू, खाल न खिचवा लूँ, तो ठाकुर का बच्चा न कहना।" सो इस गाँव में रहकर जब मेरी यह दुर्गति ही होने को है, तो ऐसे गाँव को छोड़ देना ही अच्छा है। मज़दूरी धतूरी करके जब पेट पालना है, तो कहीं भी रह सकता हूँ। इसीसे...।"

नरायन अभी अपना अन्तिम वाक्य भी पूरी न कर पाया था कि ठाकुर साहब बोले—"लेकिन तुझे आज फौज में भरती होना पड़ेगा। मुझे गाँव से जो आदमी फौज के लिये देने हैं, उनकी तादाद कैसे पूरी होगी !"

उर्वशी

आज जब जीवन-विपंची की मृदुल तरङ्ग-ताल क्रमशः मन्द पड़ने लगी, तो मैंने अपने सुहृद गोपाल दादा से कहा—"आओ चलें, कहीं घूम आयें।"

सावन के दिन हैं। नित्य ही श्यामघन इठलाते बलखाते हुए आते-आते बरस पड़ते हैं। मयूर बोलने लगते हैं और मेरा छोटा-सा छौना नारायण चकित-विस्मित मनसा-लहरी हिलोरता हुआ, खड़े होकर वातायन से झाँकने को दौड़ा आकर मेरे पैरों की धोती में लिपट जाता है। झमाझम पावस के इन मन्दालोक-पूर्ण दिनों में इधर-उधर घूमना मुझे सदा से बहुत अच्छा लगता आया है।

गोपाल ने ज़रा-सा मुसकराकर अन्तर का अनन्त उल्लास ज़रा-सा मुलकाते हुए कहा—"अच्छा तो है। चलो, वृन्दावन चलें।"

"तो फिर कल सबेरे की गाड़ी से चलना तय रहा।" कहकर मैं अपना पनडब्बा खोलने लगा।

जीवनभर चेष्टा कर-करके थक गया कि बाहर चलते वक्त साथ रहने वाली चीज़ों को पहले से, इतमीनान के साथ, ठीक तरह से एकत्र करके ट्रङ्कों के भीतर सुरक्षित रूप से रख लूं। पर इस बात में कभी सफल न हुआ, सदा कुछ-न-कुछ छूटता ही आया है। गोपाल दादा

मेरी इस प्रकृति से अपरिचित नहीं हैं। फिर भी उनसे रहा नहीं गया। बोले—"अभी काफ़ी समय है। साथ रखने को सभी आवश्यक चीज़ें पहले से ठीक करके रख लो। फिर वहाँ आवश्यकता पड़ने पर 'अरे' शब्द से कोई तीर न मार देना।"

मेरे ये गोपाल दादा बड़ी हँसोड़ तबीयत के हैं। अपने प्रेमी जनों की बहुत याद रखते हैं, और उनका प्रेमी संसार है भी बड़ा विस्तृत। उनके गाँव में एक 'सलकू' पंडित रहते हैं। उनको नाक से सुंघनी सुड़कते रहने का मर्ज़ है। बात-बात में 'तौन समझलेव' कहते रहने की उन्हें आदत है। 'समझ' शब्द का 'झ' अक्षर जल्दी बोलने में कभी-कभी 'न' भी उच्चारित होने लगता है। सुंघनी सूंघते हुए जब वह 'तौन समन्लेव' कहने लगते हैं, तो उनकी रूप-रेखा ऐसी मनोमोहक हो जाती है कि गोपाल दादा उन्हें अपलक देखते हुए मूर्तिवत् स्थिर रह जाते हैं।

ऐसे ही एक लाला किशोरीलाल नाम के वैद्य भी मेरे गाँव में रहते हैं। उनकी अवस्था इस वर्ष शायद सत्तावन की हो चुकी है। दाँत टूट गये हैं तो क्या हुआ; कृत्रिम दाँतों से ही उनकी मुख-छवि में कोई अंतर नहीं आने पाया है। केश-काकुल श्वेत हो गया है तो क्या हुआ; सप्ताह में दो बार खिजाब जो लगा लेते हैं। कृष्ण वर्ण में यदि कहीं स्वर्णिम लालिमा भी झलक जाती है, तो उन्हें असह्य व्यथा होने लगती है। आपकी जीवन-संगिनी की मृत्यु हुए अभी केवल दस वर्ष ही हुए हैं, ईश्वर की दया से आपके नाती-नतिनी भी हँसती-खेलती हैं,और आपकी देवीजी की अवस्था भी अधिक नहीं केवल ५-७ वर्ष ही आप से अधिक थी, फिर भी उनके निधन हो जाने का आपको अत्यधिक दुःख है। अकसर प्रेमी लोग आपके पास आकर, मुंह लटकाकर, जब कहने लगते हैं—"चाची के न रहने से तो आपका घर ही बिगड़ गया! सचमुच आपको उनकी मृत्यु से बड़ा सदमा पहुँचा। देखो तो, आधी देह बिला गई!" तो आप झट से रोने लगते हैं! यहाँ तक कि रोते-रोते आप हिच-

कियाँ भरने लगते हैं! मेरे गोपाल दादा इन लालाजी को भी रुला लेने का आनन्द उपलब्ध करने का श्रेय रखते हैं। इसी प्रकार से व्यक्ति इन गोपाल दादा के प्रेमी जन हैं।

हाँ, तो मैंने गोपाल दादा से कह दिया—"मैं चेष्टा तो ऐसी ही करूँगा कि आवश्यक वस्तुओं में से कोई भी वस्तु छूटने न पाये; पर यदि कोई ऐसी वस्तु रह गई. जो यहाँ बैठकर सोचने की दृष्टि से तो अनावश्यक है, पर वहाँ परदेश में आवश्यकता पड़ते समय संभव है, आवश्यक हो जाय, तब तो लाचारी है।"

दादा हँसते हुए बोल उठे—"यह अच्छा बहाना ढूँढ़ा है!"

मैंने उत्तर दिया—"बहाना नहीं दादा। सचमुच, यह बात मैं अपने अनुभव की कह रहा हूँ।"

वे बोले—"अच्छा-अच्छा। तुम चलो तो सही; तुम्हारा बाहर निकलना तो हो।"

* * *

वृन्दावन में, सड़क के किनारे के एक तिमंज़िले मकान में, हम लोग ठहरे हुए हैं। तीन दिन से बराबर पानी बरस रहा है। कभी-कभी. बीच-बीच में, घंटे-आध-घंटे को पानी रुक जाता है, परन्तु फिर भूरी-भूरी काली-काली जलद-बालाएँ, झीनी-झीनी पारदर्शिका साड़ियाँ पहने, हँसती-इठलाती, इकट्ठी हो-होकर नर्तन-गति के ताल-ताल पर सहसा बरसने लगती हैं। मेरे कमरे के दरवाज़ों पर एक ख़ूब घनी लता, खंभों पर फैलती और दूसरी मंजिल के छज्जे को आच्छादित करती हुई, उसकी छत तक जा पहुँची है। उसकी हरी-हरी पत्तियों के बीच-बीच में दुग्ध-फेन-से खिले हुए पुष्प मंद-मंद मुसकरा रहे हैं। नन्हें-नन्हें बूँद उन पर कुछ क्षणों तक तो स्थिर रहते हैं, पर जब सनसनाती हुई पुरवैया झोंके देती हुई आ पहुँचती है, तो पुष्पों और पत्तियों पर छाये हुए वे मोती एकदम से झड़ पड़ते हैं। बड़ी देर से मैं मोतियों के इस क्षण-भंगुर जीवन का अध्ययन कर रहा हूँ।

प्रातःकाल अभी हुआ ही है; अभी आठ नहीं बजे हैं। गोपाल दादा कल मथुरा चले गये हैं। इस समय मैं यहाँ अकेला हूँ। जिस मकान में मैं ठहरा हुआ हूँ, उसमें सब मिलाकर दस-पंद्रह व्यक्ति ठहरे हुए हैं। मेरे कमरे के बराबर ही एक जौहरीजी अभी परसों से ही सपत्नीक आ टिके हैं। इन जौहरीजी की पत्नी, जान पड़ता है, द्वितीय विवाह की हैं। उनका वय अभी बीस-बाइस वर्ष का होगा। परन्तु जौहरीजी की अवस्था चालीस के लगभग है। जौहरी जी की इस नवपत्नी का नाम वैसे तो मैं भला क्या जान सकता, पर जौहरीजी ठहरे आज़ाद तबीयत के पुरुष, 'चन्दा' नाम लेकर पुकारते हुए मैंने कभी-कभी उनका बोल सुन लिया है। हाँ, तो चन्दा भीतर से चाहे जैसी हो, पर उसका कंठ-स्वर मुझे बहुत प्रिय लगा। सचमुच वह ऐसा मृदुल प्राण-प्रद, और सुधा-सिक्त-सा जान पड़ा कि जब से वह इधर आ ठहरी है, तब से मेरे कान उधर ही रहे हैं। और बस यही—भला समझो या बुरा—मेरे इस जीवन का असयंम है। जो चीज़ मधुर है—सुन्दर है, कोमल है, प्रिय किंवा प्राणोन्मादिनी है, उसकी ओर से तटस्थ या अन्यमनस्क होकर मुझसे रहा नहीं जाता। मैं करूँ तो क्या करूँ। मुझे वंशी बजाने का शौक़ है। और वंशीवाले की लीलाभूमि में आकर वंशी न बजाऊँ, यह कैसे हो सकता है! नित्य ही प्रायः रात को ग्यारह बजे जब सांसारिक पुरुष अगाध निद्रा में लीन हो जाते हैं, मैं अपनी वंशी की तान छेड़ने बैठता हूँ। जब से आया हूँ, अपनी यह वंशी इस वृन्दावन में अनेक स्थलों पर बजा-बजाकर मैं अपने इष्टदेव को रिझा चुका हूँ। कल जैसे ही मैं वंशी बजाकर पलँग पर जाने को आगे बढ़ा कि जौहरीजी का नौकर, एक छोकरा, मेरी ही ओर आता हुआ दिखाई पड़ा। तुरन्त टार्च उठाकर मैंने उसका ज्वलन्त प्रकाश उसके मुख पर छोड़ दिया। वह एकदम से चौंधिया गया। निकट आने पर मैंने पूछा—"क्या है रे! कैसे इधर...?"

वह मेरे और भी निकट आकर धीरे से कहने लगा—"मालकिन कहती हैं, आज बड़ी जल्दी वंशी बजाना बन्द कर दिया!"

मैंने पूछा--"और जौहरीजी क्या कहते हैं ?"

वह बोला—"वह तो ख़र्राटे ले रहे हैं। वे इतनी रात तक कभी जगते हैं कि आज ही जगेंगे ?"

"अच्छा" मैंने कहा—"मालकिन जी से कहना, इतनी जल्दी तो नहीं बंद की, लेकिन यदि उनकी इच्छा और सुनने की है, तो फिर भी मैं तैयार हूँ।"

छोकरा चला गया और मैं फिर वंशी बजाने बैठ गया।

बड़ी देर तक मैं वंशी बजाता रहा। ऐसा जान पड़ता था, मैं नहीं बजा रहा हूँ, कोई और ही मेरी वंशी में बैठकर उसे इच्छानुसार बजा रहा है। फिर तो मुझे इतना भी बोध नहीं रहा कि मैं कहाँ हूँ, क्या हूँ, और क्या कर रहा हूँ। कितना समय हो गया, कुछ पता नहीं। अकस्मात् सुनाई पड़ा--"अरे उठ, अरे ओ कदुआ, ज़रा-सा उठ तो सही।"

जान पड़ता है कदुआ नाम का वह छोकरा उठ बैठा। स्पष्ट सुनाई पड़ा, चन्दा कह रही है—"जाकर उन बाबू जी से कह दे--क्या भोर ही कर देंगे। तीन—तो बजा दिये!"

कदुआ आँखें मलता हुआ मेरे निकट आकर यही कहने लगा।

उत्तर में मैंने कह दिया--"हर्ज़ ही क्या है! भोर भी हो जाता, तो क्या था!"

मन एक मिठास से भर गया है। नाना प्रकार की मधुर कल्पनाएँ मन में आ रही हैं। ऐसा जान पड़ता है, यह चन्दा मुझसे ज़रा भी दूर नहीं है। मेरे जीवन में जो कुछ भी प्याम है, सरसता की समस्त निधियों, आकर्षण के समस्त उपकरणों और आत्मदान के निखिल साधनों से यह नारी उसकी पूर्ति में तत्पर है। चाहूँ तो अभी स्वयं प्रभात हो जाऊँ, अथवा इस रात को ही कभी न समाप्त होने दूँ। जानता हूँ, मैं यह सब क्या सोच रहा हूँ। यह भी सोच रहा हूँ कि यह मिठास तभी तक है, जब तक मन की इस तैयारी के साथ केवल कल्पना का ही सम्बन्ध है। जीवन की वास्तविकता के साथ जब इसका

सम्बन्ध होगा, तब स्थिति दूसरी होगी। पर चिन्ता की कोई बात नहीं है। उस स्थिति के लिए मुझमें किसी प्रकार का भय नहीं है। चन्दा यदि मुझसे कोई आशा रखती है, तो मैं उसकी पूर्ति करने में चूकूंगा नहीं। भविष्य मुझे कहाँ ले जायगा और समाज की दृष्टि में मैं क्या बनूंगा, इसको तै करने की जिम्मेदारी मेरे ऊपर नहीं है। मुझमें कहीं कोई अभाव है, तो मैं उसे अवश्य पूरा करूँगा और मेरे द्वारा यदि किसी प्राणी के जीवन में तृप्ति का संचार होता है तो मैं उसको विमुख नहीं करूँगा।

* * *

पलँग पर लेटा हुआ करवँट बदल रहा हूँ। धूप निकल आई है। वातायन से शीतल समीर के झोंके हहर-हहर करते हुए आ-आकर उन्मद आनन्द बिखेर रहे हैं। सिरहाने ताक़ में रखा हुआ हरि-खिलौना अपना मुख नीचे की ओर किये हुए, हिलता हुआ, बिलकुल सजीव-सा प्रतीत होता बड़ा प्यारा लग रहा है। एकाएक मेरी दृष्टि उस ताक़ में रक्खी बंशी पर अटक गई। काष्ठ-निर्मित एक निर्जीव पदार्थ का भी, अवसर पर, कितना महत्व है! यही सोचता हुआ झट से मैंने उसे चूम लिया और होठों से लगाकर भैरवी छेड़ने लगा।

अभी दस ही मिनट हुए होंगे कि कदुआ मेरे निकट आकर कहने लगा—"मालकिन पूछती हैं, आपको मेरे हाथ का बना हुआ भोजन पाने में कोई आपत्ति तो न होगी?"

बंशी उठाकर मैंने जहाँ-की-जहाँ रख दी। मैं अब सोचने लगा—"अरे! मेरे इस शुष्क जीवन में एकाएक यह अभिनव तरल मृदुल प्राणतत्व-सा घोलनेवाली चन्दा तुम मेरी कौन हो? कहाँ से आ गई तुम? और कितने दिनों के लिए?"

कदुआ बोला—"क्या कहते हैं बाबूजी?"

मैं फिर अधीर हो उठा हूँ। जीवन-भर मैं प्रयत्न कर-करके हार गया कि मेरी प्रियतमा नँदरानी मुझसे सदा हँसकर बातें करे, कभी

मैं उसकी अप्रसन्नता का कारण न बनूं, कभी मैं इस योग्य बन जाऊँ कि वह मुझसे किसी विशेष वस्तु की याचना करे और मैं उसे तुरन्त पूर्ति का रूप देकर उसके आगे एक सफल पति का गौरव प्राप्त करने का सौभाग्य लाभ करूँ।—किन्तु कभी ऐसा हो नहीं सका। तो क्या यह चन्दा मेरे लिए नँदरानी से भी अधिक प्रिय होना चाहती है! आख़िर इसके इस प्रस्ताव का अर्थ क्या है? क्यों वह मुझको भोजन कराना चाहती है? मैं उसके लिए क्यों इतने आकर्षण की वस्तु हूँ। उसके सीमित जीवन के लिए मैं क्या कोई असीम रेखा हूँ? उसके जीवन-वृत के लिये मैं क्या कोई केन्द्र-विन्दु हूँ? और फिर, क्या उसको इतनी स्वतन्त्रता है कि वह पर-पुरुष के साथ ऐसी निकटता स्थापित कर सके? क्या उसके जीवन में अब भी कोई सूनापन है? अथवा जीवन को वह एक प्रयोगशाला मानती है? आख़िरकार उसकी स्थिति क्या है?—रह गयी बात मेरी तृप्ति की। मैं ही क्यों उसके इस प्रस्ताव पर इतना मोहित-उन्मत्त हो उठा हूँ? सम्मान-दान शिष्टाचार का एक अंग है। तब ऐसी क्या ख़ास बात है कि मैं अपने अंदर इन नाना कल्पनाओं का जाल बुन रहा हूँ। क्या नारी किसी को श्रद्धा इसीलिए करती है कि वहउसके साथ अपने हृदय का मेल चाहती है? सोचता हूँ, सम्भव है, यह सब मेरे ही मन का खेल हो—एक प्रमाद। किन्तु कुछ हो, जब फड़ जम ही गयी है, तो एक बार कौड़ी फेंके बिना मैं मान नहीं सकता।

मैंने कह दिया—"उनसे कह देना कि हाँ, आपत्ति है, बहुत बड़ी आपत्ति है! लेकिन उसे मैं उन्हीं को बता सकूंगा।"

"अरे!" मैंने सोचा, "यह मैं क्या कह गया। मैंने कहा—अच्छा यह सब कुछ न कहना। कहना, सिर्फ आज ही को नहीं, सदा के लिये हो, तो स्वीकार है।...अरे न, यह भी नहीं। कहना परदे की ओट से ही—यदि आवश्यक हो, तो—मैं पहले उनसे दो बातें करना चाहता हूँ, तब फिर कुछ निश्चय रूप से बता सकूंगा।"

कदुआ अब की बार चला ही गया; अन्यथा मैं इस उत्तर को भी कुछ बदल देता। मुझे अपना यह उत्तर भी कुछ जँचा नहीं। ऐसा जान पड़ा, जैसे यह भी अभी असंयत ही है।—"हाय! मैंने क्या कहला भेजा!"

कामना की कोई सीमा नहीं है मनुष्य के इस जीवन में। गति-ही-गति की लाली चारों ओर देख पड़ती है। "अभी और—अभी और" के ही आवर्तन इस छोर से उस छोर तक फैले हुए हैं। कहीं भी इति नहीं है, थाह नहीं है। हाय री जीवन की यह तृष्णा!

मेरे हृदय में भी कैसा द्वन्द मचा हुआ है। आपने देखा? एक ओर "अरे बस,चुप-चुप!" है और दूसरी ओर "यह नहीं वह"—"ऐसा नहीं वैसा।" परन्तु भाई मेरे; मैं सचमुच दयनीय भी तो हूँ। करूँ तो क्या करूँ। मैंने अपना ऐसा ही संसार बना रखा है। मैं तो जीवन को एक प्रवाह मानता हूँ।

इसी समय कदुआ फिर मेरे सामने आ खड़ा हुआ।

एकाएक मेरे मुंह से निकल गया—"अभी नहीं, घंटे भर बाद आना। तब जो कहेगा, सुनूंगा।"

दो बीड़े पान मय सुरती के मुंह में दबाकर मैं नित्य-कर्म से अभी निवृत्त हुआ हूँ। सोचता हूँ—"कितना अच्छा होता, यदि मैंने कल ही यह झगड़ा न पाला होता। कहला दिया होता—"अब तो सोने जा रहा हूँ। कल फिर बजेगी वंशी; आज अब नहीं।" शुष्क ही उत्तर रहता, तो भी उचित तो यही था। अरे अपने तो अब मिश्रित किंवा लिप्त से तटस्थ ही बहुत भले! जीवन की इस मध्याह्न बेला में और अधिक ममत्व के प्रलोभन की ऐसी आवश्यकता ही क्या है! परन्तु यह विचार भी कितना भ्रममूलक है! क्या जब कभी जो कुछ भी इस निखिल जगत् में हुआ करता है,सब में मनुष्य आवश्यकता-ही-आवश्यकता देखा करता है? जब मन की दुनियाँ में पदार्पण करने की बेला आये, तब भी क्या वह उपयोगिता की ही जड़मूर्ति की अर्चना करने बैठे? तो फिर जो उपयोगी नहीं है, क्या उसका अस्तित्व विश्व में किसी मूल्य

का नहीं गिना जा सकता ? क्या वह इतना नगण्य है ? अच्छा तो फिर इसका निश्चय करने का अधिकार किसने अपने सिर पर बाँध रखा है कि संसार में यह उपयोगी है; और यह अनुपयोगी ? और उसका दृष्टि-कोण किस प्रकार निर्धारित किया जायगा ? मानता हूँ—अर्थशास्त्र और समाजनीति के बटखरे इसी लिये बने हैं। और समाज की शांति-रक्षा के लिए शासन-व्यवस्था के रूप में राजनीति का न्याय-दंड भी हमारे ऊपर है। किन्तु मैं तो मनुष्य की कामना को इन सब के ऊपर मानता हूँ। मैं दंड भोगने को तैयार हूँ।

—"नहीं भाई अधीर न होओ। ऐसी कोई बात नहीं है। और यदि कहीं किसी प्रकार हो भी, तो तुम्हारे लिये तो उससे मुक्ति का भी मार्ग...।...क्या ही अच्छा होता, यदि गोपाल बाबू भी इस समय यहाँ उपस्थित होते ! लेकिन वे होते कैसे ! मैं किसी को अपने जीवन का साझीदार नहीं बना सकता। पहले मैं हूँ, उसके बाद जगत है। पहले मेरा अधिकार है, उसके बाद किसी और का। पहले मैं जिऊँगा, पहले मैं आगे आऊँगा, पहले मैं हूँ, मैं......।"

देर तक यही सब मन-ही-मन सोचता रहा।

* * *

सुचित्त होकर अभी मैं बैठा ही था कि कदुआ ने आकर कहा—"मालकिन आपको बुला रही हैं।"

उस समय मैं नंगे-बदन बैठा हुआ था। रेशमी चादर मैंने बदन पर डाल ली। मुँह में दो बीड़ पान दबाकर कदुआ के साथ ही मैं बग़ल के कमरे में, चन्दा के आगे, जा पहुँचा।

पास ही कुर्सी पड़ी थी। उसने ज़रा सकुचाते शरमाते हुए अपनी नतमुखी दृष्टि से कहा—"आओ, बिहारी बाबू !"

नवयौवन की उन्मद उल्लास-लहरी अभी वैसे ही सजग है, जैसी चञ्चल कपोती की अस्थिर ग्रीवा रहा करती है। गोरी-गोरी पतली-पतली अँगुलियाँ हैं, पान की लालिमा में डूबे हुए अधर। आकर्ण

विलम्बित नयनारविंद निखिल लोनी अंग-लता में फूटे पड़ते हैं। ऐसा कमनीय कलेवर, ऐसी सम्मोहन रूप-राशि, तो अब तक देखने में आई न थी। पर ऐसी निर्मल शरच्चंद्रिका-सी चन्दा से मेरा यह अप्रत्याशित परिचय कैसा! और मेरा 'बिहारी' नाम इनके पास तक पहुँचा कैसे? मैं तो चकित-विस्मित होकर चित्रलिखित-सा अवसन्न होकर रह गया!

मैं अभी कुर्सी पर बैठ ही पाया था कि स्टोव पर चढ़े हुए हलुए को सुनहली पीतल की चमची से टारा-फेरी करते हुए चन्दा कहने लगी--"आपने मुझे तो पहचाना न होगा।"

मैंने कहा—"हाँ, मैंने आपको कहीं देखा ज़रूर है। पर. . . ."

चन्दा बोली—"अच्छा; पहले याद कर देखो . . .।"

वाक्य पूरा करती हुई वह मुसकराने लगी।

मैंने कहा—"नहीं याद आता कहाँ देखा है। पर इतना जानता हूँ, कहीं भेंट ज़रूर हुई है।"

"तो फिर मैं ही स्मरण दिलाऊँ?" कहते हुए उसने स्टोव को शांतकर, थोड़ा-सा हलुआ एक तश्तरी में डालकर मेरे सम्मुख, एक छोटी टेबुल पर रख दिया। कदुआ एक गिलास पानी मेरे पास रख गया।

अब चन्दा कहने लगी—"श्रीत्रिलोकीनाथ को—जो आजकल इम्पीरियल बैंक कानपुर के करेंट-एकाउन्ट-विभाग में क्लर्क हैं—आप जानते हैं?"

"अच्छी तरह।"

"उनका विवाह जानते हैं, कहाँ हुआ है?"

"फ़ैज़ाबाद में। ...ओहो! अच्छी याद आई। बस-बस, वहीं तुमको देखा था वहीं। परन्तु उस समय तो... .....।"

"हाँ, कहते जाओ, उस समय क्या?" कहते हुए उसकी दंत-मुक्ताएँ झलक पड़ीं। भीतर का कलहास बाहर निकलकर खेलने लगा।

मैंने कहा—"उस समय तो मैं छोटा-सा था। आज इतने दिनों बाद आपने पहचानकर मुझे झकझोर डाला!"

"हाँ, बहुत-छोटे-से थे, बहुत ही छोटे—दूध के दाँत भी न गिरे होंगे ! क्यों ?"

"तो भी कम-से-कम पाँच-सात वर्ष तो हो ही गये होंगे।"

"और वह गुलाब-जल से भरी हुई पिचकारी सब-की-सब, ख़ाली करके शराबोर करनेवाले भी शायद आप न थे, कोई और रहा होगा ! क्यों ?"

मेरे मन में एक प्रश्न उभर रहा था—क्या यह विश्व इतना मधुर है वह बोली—"अब तो ठंडा पड़ गया होगा, खा लो न ज़रा-सा। नुक़सान न करेगा।"

जिन दिनों की बातें यह चन्दा कह रही है, मेरे वे दिन बड़े सुख के थे, बड़े रसीले ! आज जब उन दिनों की बातें, वे प्यार-भरी स्मृतियाँ, मैं भुलाए बैठा हूँ, या कम-से-कम भुलाने की चेष्टा में रत रहता हूँ, तब तरुणजीवन-मदिरा के इस उतार में उन उन्मद-रागों को छोड़कर मेरे सोये हुए मानस में यह स्पंदन, यह हलचल मचा देनेवाली चन्दा, तुम यह क्या कर रही हो !—सोचते हुए मेरे मानस में हिलोरें उठने लगीं।

वह बोली—"नाश्ता शुरू भी नहीं करते हो और कुछ उत्तर भी भी नहीं देते हो, यह क्या बात है बिहारी बाबू ?"

पुरानी स्मृतियाँ फिर हरी हो आयी हैं। मूर्तियाँ सामने खड़ी हैं और जैसे मैं उनमें हँस-बोल रहा हूँ। एक, दो, तीन चार अनेक हैं। उनकी अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् सीमाएँ हैं। वे मेरी मर्यादा से बहुत दूर हैं। सब तरह से मेरे लिए दुर्लभ। जानता हूँ, हो सकता है कि फिर कभी उनसे मिलने का अवसर ही न मिले। यह भी जानता हूँ कि वे क्षण फिर दुबारा लौटेंगे नहीं। किन्तु वर्तमान के प्रति विरक्ति भी कैसे रख सकता हूँ ! मैं देवता नहीं हूँ। मैं मनुष्य हूँ। फिर आज के समाज का। क्या मैं उनसे बात ही न करूँ ? क्या उनके प्रश्नों का उत्तर भी न दूँ ? मैंने उत्तर दिये। मैंने बातें कीं। मुसकराहट भी मेरे होठों पर आयी। मिठास भी मेरे मन में घुली। प्रस्ताव-के-प्रस्ताव मेरे सम्मुख आये।..."मेरे यहाँ क्यों नहीं आते ? क्या मुझसे मिलना भी आपको

स्वीकार नहीं ?"..."मैं तो तुम्हारे बहुत निकट हूँ—बिल्कुल रास्ते में पड़ती हूँ। एक दिन के लिए क्या...स्टेशन पर रुककर ठहर नहीं सकते?" ..."मेरा और तुम्हारा नाता तो वैसा दूर का नहीं है। वे मेरी ननद होती हैं। उनको भी साथ ले आओ न? मेरे यहाँ एक दिन रुक जाना उनको खलेगा नहीं।" पचासों बातें हैं। किस-किसको याद करूँ! मैंने उनको कभी विशेष महत्व नहीं दिया। वे सब बहुत सम्पन्न हैं। मैं उनके साथ समानता का व्यवहार निभा नहीं सकता था। पैसे का अभाव सदा काटता रहा। हाथ मल-मलकर रह गया हूँ। रातें करवटें बदलते बीती हैं। आँखें सूज-सूज गयी हैं। आफ़िस में काम का हर्ज हुआ है और परिणाम में डाँट खानी पड़ी है। सदा जलता ही रहा हूँ। आज भी वह जलन शांत नहीं हो पायी है।

मेरे मौन रहने पर फिर बोली—"अच्छा, न कहूंगी और कुछ। अरे! तुम तो आँसू पोंछने लगे!"

क्षण-भर ठहरकर, अपने उमड़ते हुए हृदय को संयत करती हुई चन्दा कहने लगी—"दुःख क्या केवल तुम्हारे ही हिस्से में पड़ा है बिहारी बाबू, जो उसे सँभाल नहीं सकते! तुम मेरी ओर क्यों नहीं देखते! क्या मेरे दुःख की भी कहीं कोई सीमा है?—क्या कहीं कोई उसकी थाह तक पहुँच सकता है! लेकिन मैं तो रोती नहीं हूँ, बल्कि 'हँसोड़' नाम से प्रसिद्ध हो रही हूँ।"

आँसू पोंछकर, ज़रा-सा स्थिर होकर, हाथ-मुँह धो-पोंछकर मैं नाश्ता करने बैठ गया।

* * *

"मेरी व्यथा की कथा न पूछो बिहारी बाबू, उसे मेरे अंतर में योंही छिपी पड़ी रहने दो।" कहते-कहते चन्दा के नयनों से मोती झरने लगे।

मैंने कहा—"तो फिर जाने दो उन बातों को। व्यर्थ में अपने को क्यों और अधिक व्यथा पहुँचाई जाय!"

पर चन्दा के मन का उद्वेग तो छाती फाड़कर बाहर निकला पड़ता था। बोली—"परन्तु अब तो तुमसे कहे बिना, जान पड़ता है जी न मानेगा।" कुछ रुकते हुए वह बोली"—ब्याह तो मेरा कहने-भर को ही हुआ है। पति का सुख नारी के लिये क्या वस्तु है, मैंने आज तक नहीं जाँना। और अब वह अन्तर्यामी ही जानते हैं, आगे भला क्या जान सकूँगी। ... चार विवाह किये बैठे हैं। एक तो रोते-कलपते चल बसी। उसने तो नया जीवन पाया। दो में से एक मकान पर है, एक अपनी माँ के यहाँ आज दो वर्ष से पड़ी हुई है। चौथी मैं हूँ। शरीर उनका देखते ही हो, सूखकर कैसा काँटा हो गया है! मदिरा इतनी अधिक पीते हैं कि एकदम बेहोश हो जाते हैं। कभी-कभी मेरे मुँह में बोतल ठूँसने का उपक्रम कर बैठते हैं! किसी के समझाने का कोई असर नहीं होता। समझाते समय तुरन्त अपनी ग़लती मान लेंगे; ज़्यादा परेशान करोगे तो रोने लगेंगे; पर एकान्त पाकर फिर ढालने लगेंगे। उनकी बातें सुनो तो आश्चर्य से चकित हो जाओ। कहते हैं—"चार दिन की जिन्दगी के लिये अब इसे क्या छोड़ूं। जब तक मैं हूँ, तब तक 'मय' भी साथ चलेगी, फिर जब मैं ही न रहूँगा, तो 'मय' कहाँ से आयेगी, किसके पास आयेगी! वही मेरा प्राण है—जीवन है। अच्छा, तो मनुष्य का जीवन भी क्या एक क़िस्म का नशा नहीं है? नशा नहीं है, तो एक दूसरे को क्यों नोचते-खसोटते हो? झोपड़ियाँ जलाकर महल खड़ा करने की साध नशा नहीं, तो फिर क्या है? दुनियाँ को धोखा देकर, उसकी आँखों में धूल झोंककर, संसार के जो समस्त व्यवसाय-वाणिज्य अहर्निश तुमुल-नाद के साथ चल रहे हैं, उनके मूल में भी तो एक नशा ही है। तो फिर यदि मैं भी अपने नशे में मस्त रहता हूँ, तो क्या बुरा करता हूँ!"

इस समय मैंने देखा, चन्दा का मुख निर्मल स्वर्णिम आलोक से एकबारगी ज्योतिर्मय हो उठा। भीतर का अवसाद अस्ताचल-गमनोन्मुखी भगवान् दिनकर की अंतिम रश्मि की भाँति, अंतरिक्ष में

लीन होते हुए भी. चन्दा के मुख पर झिलमिल-झिलमिल होने लगा। अपनी अधीर, किन्तु लजीली आँखों से मेरी ओर इकटक देखते हुए उसने कहा—"एक-दो नहीं, उनकी सभी बातें विचित्र हैं, बिहारी बाबू! एक दिन उन्होंने बतलाया कि यह मैं अच्छी तरह से जानता हूँ कि संसार में जिसे 'सुख' कहा जाता है, वह मेरे द्वारा मेरी इन सोने की पुतलियों को नहीं मिलेगा। केवल मन से ही नहीं, शरीर से भी मैं कितना जर्जरित हो रहा हूँ, सो देखती ही हो। परन्तु मैं अपनी इच्छाओं के लिये विवश हूँ। मेरे तरुण जीवन का जब प्रभातकाल था, तब अपनी प्रथम पत्नी को मैंने अतुल सौंदर्यशालिनी के रूप में पाया। बहुत बड़ी साध के साथ मैंने उसका अपना प्यार का नाम रखा—प्रियंवदा। और, प्रियंवदा मेरे जीवन में प्राणमयी होकर रही। मिश्री की डलियाँ जैसे ऊपर से उज्ज्वल और चमकीली होती हैं और भीतर से एकदम मीठी--रसवती; वैसी ही मेरी प्रियंवदा थी। परन्तु थोड़े दिनों में, देखते-देखते, वह मरालिनी उड़ गई। उसकी शांति-क्रिया भी न हो पायी थी कि विवाह के तीन प्रस्ताव मेरे पास आ गये। अपनी रुचि के अनुसार तीनों को देख-देखकर ब्याह लिया। अब ये मेरी रंभा, मेनका और उर्वशी हैं। क्या बताऊँ, उस समय मुझे एक ज़िद-सी सवार हो गई थी। मन में आया—"तुमने यदि मुझसे एक को छीन लिया. तो देख लो, मैं वैसी ही तीन रखता हूँ। तुम्हारे राज्य में यदि मैं चूँ करने की, विनय-प्रार्थना की, कोई सुनवाई नहीं पाता, तो फिर तुम्हारे विधान को मैं भी जैसा चाहूँगा, ठुकराऊँगा।"

जानता हूँ, यह एक ओर प्रतिक्रिया है—विकृति, दूसरी ओर अज्ञान। यह एक व्यक्तिवादी अहंभाव है। समाज की व्यवस्था इसको सहन नहीं कर सकती। व्यक्ति को इतनी स्वतंत्रता समाज नहीं दे सकता। राजकीय विधानों से इसे रोका जा सकता है; रोका ही जाना चाहिये। किन्तु वह व्यक्ति का समाज की आधुनिक व्यवस्था के प्रति एक विद्रोह भी तो है। जो लोग दुःख के अगाध को केवल ईश्वर की रचना

के नाम पर सदा सहन करते और घुल-घुलकर मरते हैं, उनकी अपेक्षा इस तरह का व्यक्ति फिर भी वीर और साहसी है। मैं उसके इस कार्य को निन्द्य मानकर भी उसके साहस की प्रशंसा ही करूँगा। मैं तो मानव मात्र की तृप्ति का समर्थक हूँ। हाँ, विरोध और कुत्सा मेरे मन में इस-लिए ज़रूर है कि प्रतिहिंसा की यह पूर्ति है बड़ी भयानक। इसे हम न्यायोचित नहीं मान सकते। समर्थन हम इसका नहीं कर सकते। दोनों ओर देखकर अन्त में मुझे प्रसन्नता ही हुई!

मैंने हँसते हुए कहा--"तो तुम्हारा नाम उन्होंने उर्वशी रक्खा है!"

उसने आधा हँसकर आधा शरमाकर नतमुखी आँखों से कह दिया--"अब जैसा समझो।...अच्छा, क्या यह नाम तुमको पसन्द है?

राय न देकर मैंने पूछा--"क्या कर रहे हैं इस समय? कहाँ हैं?"

वह बोली--"सो रहे हैं। दो तीन बजे तक उठेंगे।"

मैंने कहा--"हाँ; कहती जाओ।"

मैंने देखा, वह अपने भीतर छिपे हुए मनोभावों की तह-सी खोल रही है।

वह कहने लगी--"हम तीनों साथ-साथ रह चुकी हैं। हमने यह अनुभव किया है कि इनमें प्रेम की ज्वलंत आग है। ऐसी बात नहीं है कि यह हममें से किसी को ज़रा-सा भी कम चाहते हों! पर मैं तुम्हें कैसे समझाऊँ बिहारी बाबू कि क्या इसका अर्थ यही है कि वह किसी को भी नहीं चाहते? कम-से-कम मैं तो ऐसा नहीं समझती? यदि मनुष्य हृदय से साफ़ हो, उसके भीतर कोई चोर न हो, तो वह अन्यायी भले ही कहला ले, पर दयनीय तो अवश्य है। परन्तु मेरी पूर्ववर्तिनी दोनों बहनें--रंभा और मेनका--इन बातों की यथार्थता को समझती ही नहीं। मैं तो समझा-समझाकर हार गई। वे कहती हैं--"नारी अपने मन की सम्राज्ञी होती है। उसे तो अपने पति का पूरा मनोराज्य चाहिये।" उनका कहना भी मैं कैसे कहूँ कि ठीक नहीं है। पर मैं कम-से-कम अपने दृष्टि-कोण से ऐसा नहीं समझती। मैं तो समझती हूँ कि नारी को पति

का केवल आत्मावलंब चाहिये। हृदय के एक कोने में छिपी पड़ी रहने भर को भी यदि पति स्थान दे दे, या नारी पति से पा ले, तो फिर उस को और कुछ न चाहिये। सो सच जानो बिहारी बाबू, मेरे दुःख-सुख का जोड़ है--मेरे लिये दोनों एक से हो गये हैं और उन्होंने भी परस्पर समझौता कर लिया है।"

मुझे ऐसा बोध होने लगा कि यह नारी नहीं, देवी है--जगत्शक्ति। और साथ ही मुझे अपने आप पर भी एक प्रकार की क्षुद्रता प्रतिबिंबत होती हुई देख पड़ी। कोई कानों में कहने-सा लगा--"क्यों बिहारी, तुमने अब तक जो कुछ पढ़ा-लिखा है, जो कुछ भी विद्या-बुद्धि अर्जित की है, इस नारी ने अपने भावालोक से उसे कैसा शिथिल और निर्जीव करके छोड़ दिया है!"

उसी दिन मैं गोपाल दादा को साथ लेकर मथुरा होता हुआ आगरा जा पहुँचा। रात को ग्यारह बजे जब मैं अपनी वंशी बजाने बैठा, तो चन्दा की बातें जैसे मेरी वंशी के स्वरों से निकलकर मूर्तिमान हो उठीं। गोपाल दादा बोले—"आज तो बड़ी तैयारी के साथ बजा रहे हो यार! वर्षों बाद यह रङ्ग देख पड़ा। जीवन-रसाल की डाल पर फिर से तो कोई कोयलिया नहीं बोल गई?"

और इसी समय किसी ने नीचे से आवाज़ दी—"यहाँ कोई बिहारी बाबू ठहरे हैं--बिहारी बाबू! उनके नाम एक तार है।"

मैं चट-से नीचे आकर पहले लिफ़ाफ़ा फाड़कर तार पढ़ने लगा। उसमें लिखा था--

उन्हें कालरा हो गया है। तुरन्त आओ।

--चन्दा।

ऊपर आने पर गोपालदादा ने पूछा--"किसका तार है? कहाँ से आया है?"

मैंने तार उनके हाथ पर रख दिया।

देखकर उन्होंने पूछा—"यह चन्दा कौन है बिहारी?"

मैं कुछ क्षणों के लिये एकदम से अस्थिर हो उठा।

अंत में मैंने कहा—"अब यह सब इस समय इतनी जल्दी मैं तुम्हें कैसे बताऊँ! अच्छा उठो तो झट से, मुझे स्टेशन पहुँचा आओ। रास्ते में बाक़ी सब बताऊँगा।"

मैं इस समय अपने को एक भयानक आँधी में पा रहा हूँ। एक व्यथा, एक हलचल, एक उन्माद मेरे चारों ओर चक्कर लगा रहा है।

* * *

जौहरीजी के अच्छे होने में कई दिन लगे। डाक्टरों का आना-जाना पहले कई दिनों तक जारी रहा। चारों ओर घबराहट, सावधानी, चिन्ता और मूकता का ही राज्य रहा। रुपया पानी की तरह बहता था। जिसने जितना माँगा, चन्दा ने तुरन्त दिया। रातें बैठे-ही-बैठे बीततीं। प्रत्येक प्रातःकाल एक चिन्ता लेकर उपस्थित होता। प्रत्येक रात एक सन्नाटे के साथ कटती। दो दिन के बाद विश्वास हो चला कि जौहरीजी बच जायँगे। चिन्ता की कोई बात नहीं है। चन्दा की आँखें सूज गयी थीं। वह बिल्कुल सो न पाती थी। मुझसे कभी-कभी ज़ोर और ज़बर-दस्ती का भी उसने प्रयोग किया। मैं चाहता था, उसको आराम दूँ, किसी तरह उसको नींद न सही, एक झपकी ही लग जाय। पर वह मुझको अधिक-से-अधिक आराम देना चाहती थी। मेरा कहना था कि सारी जिम्मेदारी मेरी है। मैं जौहरी साहब को अच्छा कर लूँगा, तुम चिन्ता न करो। और उसने उत्तर दिया—"तुम्हारी जिम्मेदारी कुछ नहीं है। मैं अपनी चीज़ को तुम्हारे हाथ में कैसे सौंप दूँ? भाग मेरे फूटेंगे, सेंदुर मेरे भाल का जायगा, चूड़ियाँ मेरी फूटेंगी और संसार मेरा नष्ट होगा। आपको क्या?" मैं तब अवाक् रह गया था।

मकान काफ़ी बड़ा था। नौकर भी पाँच-सात। रात और दिन में अलग-अलग काम करनेवाले। लेकिन नहीं, मेरे आराम से सम्बन्ध रखनेवाले कार्य चन्दा स्वयं करती। सोने के लिए मेरा पलँग वह स्वयं बिछाती। समय-समय पर पान-शरबत, नाश्ता और भोजन का प्रबन्ध वह स्वयं करती। नौकरों से काम लेते क्षण भी स्वयं उपस्थित रहती।

रात को औटाया हुआ गरम दूध पिलाने के लिए गिलास लेकर वह स्वयं सामने उपस्थित हो जाती। मैंने हरचन्द कोशिश की, हर तरह से समझाया, पर उसने एक न सुनी। चिन्ता और घबराहट के उस वातावरण में उसके इस अतिरंजित आतिथ्य और शिष्टाचार की जब मैं भर्त्सना करने लगता, तो बात-की-बात में भीतर का अगोचर भाव उसके होठों पर आजाता। वाणी फूट पड़ती—"ज़रा सुनूँ तो सही, क्यों यह अनुचित है? कैसे तुम इसको अतिरंजित कहते हो? बड़ी हिम्मत हो, तो कह दो—"तुम मेरे साथी नहीं हो! कह दो—मेरा तुम पर कोई अधिकार नहीं है!" तब मुझे उसका अनुरोध मानना ही पड़ता।

मैं इन बातों को और बढ़ाना नहीं चाहता था। इसका सब से बड़ा कारण यह था कि उस समय उसी घर में जो एक प्राणी जीवन और मृत्यु की लड़ाई लड़ रहा था, वह हमारा आत्मीय था। उसकी मंगल-कामना के लिए हम लोग एक विशेष कार्यक्रम में बँधे हुए थे। हमारी यह मैत्री नयी थी। हम लोग अभी एक-दूसरे से अच्छी तरह विचार-विनिमय भी नहीं कर पाये थे। हमारी मान्यताओं को अभी एक दूसरे के साथ टकराने का अवसर नहीं मिला था। हमारी साँसों का सम्बन्ध अभी सर्वथा अलग-ही-अलग था। मेरे भीतर अतृप्ति की आग थी; उसके फलस्वरूप आँखों में मोह और आकर्षण का नशा था। हमारी वाणी एक शिष्टाचार--एक मर्यादा—की सीमा-रेखाओं के भीतर-ही-भीतर चल-फिर सकती थी। हमारा क्षेत्र सीमित था, किन्तु हमारी कल्पनाएँ असीम थीं। हमारा लक्ष्य बहुत दूर था, किन्तु हमारा पथ निश्चित और संकुचित। हमारी कामनाएँ नवीन और अनोखी थीं, किन्तु उनका रूप अधखुला, बहुत कुछ कल्पित था—बहुत कुछ अनिश्चित। भविष्य हमारे लिए अथाह समुद्रमें तैरने का एक प्रयोग था। जीवन हमारे लिए अकल्पित घटनाओं से भरा, घात-प्रतिघातों से आच्छन्न, संकटों और खतरों का एक निमंत्रण था। हमारे भीतर प्रश्न उभरते थे, पर वाणी का रूप उन्हें दे पाने में हम समर्थ न थे। भीतर से हम भरे हुए, तैयार और सजग थे, किन्तु

ऊपर हमारे संस्कृति, मर्यादा और शिष्टता का ऐसा एक आवरण चढ़ा हुआ था कि हम टस-से-मस न हो सकते थे। बोलते हम थे, किन्तु हमारे बोलों की शब्दावली परिस्थितिजन्य वातावरण की एक माँग होती थी। सुनते हम थे, किन्तु हमारे कानों पर उत्तरदायित्व की एक विद्युतशक्ति का प्रभाव था। वह हमको केवल सुना सकती थी, हमारी वाणी--हमारा अन्तःस्वर-- ग्रहण न कर सकती थी। मानो फ़ोन का स्वर ही हम प्राप्त कर सकते थे, अपना स्वर उसे दे नहीं सकते थे।

किन्तु चन्दा की स्थिति ऐसी न थी। वह रात-दिन काम में लगी रहती। नौकरों से काम लेने में वह पूर्ण दक्ष थी। दवा लाने की बात होती, तो अच्छी तरह समझा देती—"देखो, एक शीशी मिलेगी। वह एक ख़ूबसूरत खोल के अन्दर होगी। खोल को दूकान के बाबू के सामने उन्हीं से खुलवा कर देखा लेना, शीशी ख़ाली न हो। कार्क मोम से खूब जमा होगा। देख लेना, खुला हुआ न हो। नोट के बाक़ी रुपये और पैसे ठीक तरह से गिन लेना। रास्ते में होशियारी से लाना। हाथ से कहीं छोड़ न देना।"...काम बिगड़ जाने पर डाँट बता देती—"बड़े लापरवाह हो। पिटने का काम किया है। अरे, इतना तो ख़्याल किया होता कि जिसकी सेवा से तुम्हारी जीविका है, वह मृत्यु-शैया पर है। भगवान ही बचाये, तो बच सकता है! तुम्हारी ज़रा-सी भूल से उसकी जान जा सकती है।" किन्तु शाम के वक्त जब उसे छुट्टी का अवसर देती, तो दम-दिलासा देने में भी न चूकती। कहती—"भूल तुमसे हो गयी थी। आदमी से हो ही जाती है। लेकिन संकट के समय आदमी को मामूली तौर से कुछ ज़्यादा होशियार रहना पड़ता है।" फिर रसोइये को लक्ष्य करके कहती—"दोपहर के खाने में जो पूरियाँ बची हैं, इसे दे दो महराज। दिन-भर उसे दौड़ने में बीता है।" इस प्रकार क्रोध और दया, अनुशासन और पुरस्कार उसकी दिन-चर्या के मुख्य अंग बन गये थे। अनेक बार देखने में आया कि कोई एक वाक्य जो नौकर से कहा गया है, आदेशात्मक होने के कारण रुखाई और उग्रता से भरा हुआ है।

परन्तु उसके बाद ही ऐसा प्रसंग आगया कि दूसरा वाक्य मुझसे कहना पड़ा, जिसमें परामर्श, सम्मति और संशोधन की बात है। मुख पर गम्भीरता के स्थान पर उत्साह और प्रसन्नता की झलक है, आँखों में एक सहयोग, सहृदयता और अभिन्नता का भाव। यह देखकर मैं चकित हो उठा।

अपने आप से अनेक बार पूछकर देखा है—ऐसा तो नहीं है कि मेरे मन पर इस रमणी की जो छाप पड़ रही है उसका कारण केवल यह हो कि मैं उससे आकृष्ट हूँ और इसीलिये उसमें मुझे गुण-ही-गुण मिल रहे हों। जो भाव मेरे मन में यकायक स्थान जमा लेते हैं उनके प्रति मैं बहुत सजग रहता हूँ। साधारणतया में उन्हें सत्य नहीं मानता। हर एक अनुभूति को अपने भीतर यों ही नहीं रख लेता हूँ। स्पर्शमात्र से पिघल जानेवाला प्राणी मैं नहीं हूँ। न आवश्यकता से अधिक सावधान हूँ; न उचित से अधिक तटस्थ। प्रत्येक स्थिति को अच्छी तरह समझकर ही उसके विषय में अपना मत निर्धारित करता हूँ।

धीरे-धीरे संकट-काल समाप्त हो गया। तीसरे दिन जौहरीजी ने आँखें खोल दीं। सामने चन्दा उपस्थित थी। बोले—"तुमने मुझे बचा ही लिया चन्दा।" पर उस समय डाक्टर विश्वास भी उपस्थित थे। झट बोल उठे—"बस ज्यादा बात-चीत न कीजिये। अभी आप कमज़ोर बहुत हैं। ईश्वर को हजार-हजार धन्यवाद है कि उसने आपको बचा लिया।"

इसके बाद डाक्टर विश्वास तो अनार का रस, थोड़ा-सा गरम दूध और एक मिक्स्चर देने की व्यवस्था करके चले गये। मैं भी अपने कमरे में आ गया। थोड़ी देर में चन्दा ने आकर कहा—"नींद आ गई है। परन्तु ज्वर शायद आ जायगा। डाक्टर साहब जाते समय कह गये हैं—ज्वर हो आना स्वाभाविक है। चिन्ता का कोई कारण नहीं है।...आपको चाय अभी तक नहीं आई! अभी भेजती हूँ।" और इन्हीं शब्दों के साथ वह लौट पड़ी। मैंने कह दिया—"लेकिन सुनिये,

मैं आज इस तरह चाय नहीं पिऊँगा। आज आपको भी मेरे पास यहीं बैठकर चाय पीनी पड़ेगी।"

चन्दा ठहर गयी। घूमकर कुछ मेरी ओर बढ़कर बोली--"लेकिन आप तो जानते हैं, मैं चाय नहीं पीती।"

मैंने पूछा—"क्यों, चाय से आपको ऐसी नफ़रत क्यों है?"

वह बोली—"यह समय बहस करने का नहीं है। मकान की सफ़ाई ठीक तरह से अभी नहीं हुई। रामदुलारे साग लेकर अभी तक लौटा नहीं। धोबी के यहाँ से कपड़े आगये हैं। उसको बिदा करना है। बीस काम हैं। काम के समय......।" और फिर वह लौट गयी।

आज शाम को जब डाक्टर विश्वास जौहरीजी की स्थिति पर पूर्ण संतोष प्रकट करके चले गये और मैं फिर भी उनके पास उपस्थित बना रहा, तो उन्होंने चन्दा से प्रश्न किया--"आपको मैंने नहीं पहचाना। सबेरे भी आप मौजूद थे। मैं पूछता-पूछता रुक गया था।"

चन्दा ने उत्तर दिया--"ये मेरे बन्धु हैं, साथी और मित्र हैं। सब तरह से अपने आत्मीय हैं। इनकी सहायता न मिलती, तो मैं बड़ी कठिनाई में पड़ जाती। रहते कानपुर हैं। इधर अपने एक मित्र के साथ घूमने के इरादे से आगये थे। कुछ दिन यहाँ रहकर आगरा चले गये थे। तार देकर इन्हें बुलाना पड़ा।"

मैंने देखा, चन्दा ने मेरा परिचय देने में कहीं कुछ छिपाया नहीं, संकोच नहीं किया। मैंने यह भी अनुभव किया कि उसके मुख का भाव भी कुछ बदला नहीं। यहाँ तक कि गम्भीरता की एक हलकी छाया भी उस पर लक्षित नहीं हुई। हाँ, बात समाप्त करते हुए उसने एक बार मेरी ओर देख लिया। मैं उस समय जौहरीजी के मनोभावों का अध्ययन कर रहा था। शरीर और मुख को देखकर मेरे मन पर उनकी जो छाप पड़ रही थी, उसके अनुसार मैं सोचने लगा—"सचमुच इस आदमी ने जीवन की ऊँची-नीची घाटियाँ पार की हैं। आँखों के नीचे पलकों की तराइयाँ कुछ गहरी और श्याम हो गई हैं।"

उस समय चन्दा भीतर चली गई। बाद में मालूम हो गया कि दवा पिलाने के लिये शीशे का गिलास लेने गयी थी। इस बीच में जौहरीजी बोले—"मैं इस कृपा के लिये आपका कृतज्ञ हूँ।"

मैंने कहा—"चन्दा से आप की प्रशंसा सुनकर बहुत पहले से आप से मिलने को उत्सुक था। संयोग से ऐसा अवसर मिल गया।"

जौहरीजी उठकर बैठ गये। सिरहाने कई तकिया एक साथ रखकर उन्हीं के सहारे बैठना चाहते थे। भाव देखकर पैताने पड़ी हुई तकिया तब मैंने उठाकर सिरहाने रख दी। इसी समय चन्दा आ पहुँची। बोली—"जाइये, आपकी चाय ठंढी हो रही है।"

जौहरीजी के हाथ में तब तक शीशे के गिलास में दवा की ख़ूराक थी। पीते हुए ज़रा-सा मुंह बिदोरते और फिर रूमाल से होठों को पोंछते हुये कहने लगे—"हाँ साहब, जाइये आप लोग चाय पीने। मेरा इस्तैफ़ा तो मंजूर होते-होते रह गया।.....पान देना चन्दा। कई दिन बाद आज सूरत देखने को मिली है।"

ऐसा जान पड़ा, जैसे बिजली के लीक करते हुए तार पर हाथ पड़ गया है। उनकी ओर ताकता रह गया। चन्दा ने जूठे गिलास को इलमारी में रख दिया। इसके बाद वह मेरी ओर देखती हुई जौहरी साहब के पलँग के दूसरी ओर जा पहुँची। वहाँ कुरसी पर बैठती हुई बोली—"ठाकुरजी के मन्दिर से प्रसाद आया है। इनके काम का तो है नहीं। डाक्टर साहब ने मना किया है। आपको रख आयी हूँ। पर आप तो ...।"

"हाँ भई, मैं तो अब ठहर ही गया हूँ। आप लोग अपनी दिनचर्य्या में क्यों विघ्न डालते हैं।" कहकर जौहरीजी ने तश्तरी में सामने रक्खा हुआ पान उठाकर मुँह में रख लिया। साथ-ही हाथ में लगा हुआ कत्था पनबसने में पोंछते हुए पुनः बोले—"जाओ उर्वशी, बाबू साहब को चाय पिला आओ।"

मैं बराबर इस बात को लक्ष्य कर रहा था कि जौहरीजी अपने कथन में यह भाव प्रकट किये बिना नहीं रहते कि मैं वे अपने ही घर में इस समय एक तीसरे व्यक्ति की स्थिति रखते हैं। वे इस भाव को न भूल सकते हैं, न छिपा सकते हैं, न उदारता और संयम के साथ उसको परिष्कृत करके प्रकट कर सकते हैं।

चन्दा बोली—"आपको तो चाय से कोई ख़ास दिलचस्पी भी नहीं है। फिर क्यों आप उसके पीछे पड़े हैं। इसके सिवा बिहारी बाबू आप चाय पीने में सदा किसी-न-किसी के साथ की प्रतीक्षा ही करते हों, यह बात भी नहीं है। एकान्त में इनको छोड़ने का अर्थ आप जानते हैं। ज़रा-सी सेहत जान पड़ने के बाद मुँह खोलते ही कैसे उद्गार निकाल रहे हैं, यह भी आप देख ही रहे हैं। ऐसी दशा में मेरा यहाँ से उठकर आपके साथ बैठकर चाय पीना......।"

बिना एक शब्द बोले मैं दूसरे कमरे में आकर एक कुरसी पर बैठ गया। सामने टेबिल पर चाय थी। किन्तु मन में चाय के पानी से भी अधिक कोई चीज़ खौल रही थी। अपना मूल्य अपनी ही दृष्टि में खो गया था। उर्वशी के साथ मेरा क्या सम्बन्ध है? क्यों मैं उसके पीछे पड़ा हूँ? केवल रूप का मोह, केवल वासना-पूर्ति की मिथ्या कल्पना ही तो इसका मूल कारण है। फिर उर्वशी की अपनी भी तो सीमाएँ हैं।—और वे आज मेरे लिये सर्वथा नयी भी नहीं हैं।...और ये जौहरीजी भी खूब हैं। जीवन को तिनके की भांति उड़ाते और बहाते हैं; जहाँ चाहे वहाँ पहुँच जाय। कोई चिन्ता नहीं कि अंत कहाँ है। सभी उनके लिये मान्य है। बुरा भला कुछ नहीं। न परिवार का ध्यान है, न समाज का। ईश्वर पर भी क्या आस्था होगी! केवल एक व्यक्ति-ही-व्यक्ति का प्रश्न है। चाहे जिस प्रकार वह सन्तुष्ट हो। और इसमें समर्थ वे इसलिये हैं कि रुपया उनके पास है। पूर्वज छोड़ गये हैं। कुछ ख़ुद उन्होंने भी बढ़ाया ही है। ऐसे आदमी का समाज के लिए क्या उपयोग है? दो स्त्रियाँ और हैं! रम्भा और मेनका। पता नहीं वे किस दशा में हों। जैसा

इस चन्दा का जीवन है, उनका भी होगा। लेकिन यह चन्दा भी आख़िर क्यों ऐसे आदमी के पीछे अपना जीवन उत्सर्ग कर रही है? क्या रस है उसके जीवन में? ऐसे आदमी के प्रति उसके मन में प्रेम कैसे रहता है? इसी के लिये उसने आंखें सुजा लीं। इसीके लिये वह रोई। स्वास्थ्य की कोई चिन्ता नहीं की। विश्राम उसने जाना नहीं होता कैसा है! क्या यह सब आत्म-प्रवञ्चना नहीं है? आदि से लेकर अन्त तक जीवन का क्षय-ही-क्षय क्या इसमें नहीं लक्षित होता!

अरे! कब कप में चाय ढाली, कब उसमें दूध और चीनी मिलाई और कब से प्याला सामने रखे बैठा हूँ। ध्यान आते ही चाय जो मुंह से लगाई तो देखा ठण्डी हो गई है। एक घूंट ही पीकर प्याला रख दिया।

इसी समय चन्दा आ पहुँची। मेरे पीछे खड़ी हो दोनों कन्धों पर हाथ धरकर बोली—"मैं जानती थी, तुम अकेले चाय पी न सकोगे। तभी जी न माना और देखने चली आयी।"

और कथन के साथ ही प्याले को छूकर देखने लगी, फिर खिल-खिलाकर हँस पड़ी। बोली—"वाह यह ख़ूब रही। चाय आख़िर ठंढीकर डाली! अच्छा, कोई चिन्ता नहीं। मैं फिर बनवाती हूँ।" वह कमरे से चली गई। चलते समय साड़ी सिर से नीचे गिर गयी थी। लहराता केश-पाश सिलसिलेवार पतली पड़ती हुई गुंथी चोटी और बायें कन्धें से लेकर कटिपर्य्यन्त खुला हुआ देह-भाग अर्धांश में चपकी कंचुकी-सहित एकदम स्पष्ट झलक गया। साड़ी का अंचल फ़र्श को भी दो क़दम छूता हुआ चला गया। तब बात-की-बात में सारी उदासीनता तिरो-हित हो गई। कुर्सी से उठकर खड़ा हो गया और कमरे भर में इधर-से-उधर टहलने लगा।

परन्तु एक बात यहाँ कहने से छूट गई है। पहले उस पर ध्यान नहीं गया था। इसी समय उसे लक्ष कर पाया हूँ। यह कमरा वास्तव में किसी अतिथि को बैठाकर स्वागत-सत्कार करने के लिये नहीं है।

यह तो वास्तव में चन्दा का शृङ्गार-प्रसाधन का अपना विशेष कमरा है। टेबिल में सामने बड़ा-सा दर्पण लगा है और उसके इर्द-गिर्द पोमेड स्नो, हेयर आयल, कंघी आदि सामग्री यथाविधि लगी है। चारों ओर दीवालों पर कुछ दृश्य-चित्र भी हैं। मेरी समझ में नहीं आया, आख़िर चन्दा ने मेरी चाय का प्रबन्ध इस कमरे में क्यों किया। उस समय मुझे जान पड़ने लगा, जैसे मैं किसी भूल-भुलैयाँ में पड़ गया हूँ। जिस ओर आगे बढ़ता हूँ, उधर ही आश्चर्य्य की टक्कर खाकर लौट आता हूँ। सब से बढ़कर रहस्य मुझे इस चन्दा में देख पड़ता है। ज्यों ही इसके सम्बन्ध में मैं कोई सम्मति स्थिर कर पाता हूँ,त्यों ही यह उसे आमूल नष्ट कर देती है। कभी-कभी तो मुझे अपने सम्बन्ध में भी भ्रम होने लगता है। मैं सोचता हूँ, मैं इसके पीछे पागल तो नहीं हो गया हूँ! आख़िर क्यों मैं इसके संकेतों पर नाच रहा हूँ!

यकायक दर्पण के सामने मेरी दृष्टि आ पड़ी। मुझे ऐसा जान पड़ने लगा, जैसे यह दर्पण केवल आकृति का नहीं, मन के प्रत्येक स्तर का भेद खोल देने में समर्थ है। ऐसा न होता, तो मुझे अपने विषय में उपर्युक्त आशंका क्यों होती!

टेबिल के दक्षिण ओर एक आरामकुरसी पड़ी थी। मैं उसी पर विराजमान हो गया। पायों पर मैंने दोनों पैर फैला दिये। सोचने लगा—"चन्दा आ ही रही होगी। देखना है,अबकी बार क्या रूपक ले आती है।" किन्तु पता नहीं कैसे मेरी आँखें झपक गयीं। कहाँ चली गयी चन्दा, कहाँ छूट गये जौहरीजी। कुछ पता नहीं। गाढ़ निद्रा में संसार के सारे माया-मोह अन्तर्धान हो जाते हैं। हो सकता है कि चन्दा ने अन्त में इस कमरे में आकर एक मिनट के अन्दर जिस मधुर मोहक रहस्य-लोक की सृष्टि कर दी, उसी से मोहाच्छन्न होकर मुझे निद्रा-रूपी महामाया ने अपने अंकपाश में निबद्ध कर लिया हो। सम्भव है, मेरे कन्धों पर दोनों हाथ रखकर उसने केवल स्पर्श के द्वारा मुझे सम्मोहित करके निद्रा-लोक में छोड़ दिया हो। अथवा यह भी हो सकता

है कि कई दिन नैश जागरण की संचित थकान अभी पूरी न हुई हो और मन को थोड़ी-सी रसानुभूति के कारण प्रकारान्तर से जो तृप्ति मिली हो, उसी का यह फल हो। जो भी कारण हो, मुझे निद्रा आ गयी और मैं सो गया। अन्त में जब मेरी आँखें खुलीं, तो मैं क्या देखता हूँ कि कमरे की चिक का पर्दा खुल रहा है और मुसकराती हुई चन्दा कह रही है--"चाय तो ख़ैर दूसरी बार भी ठंढी हो गयी। पर यह अच्छा हुआ कि आपको दो-ढाई घंटे की नींद आ गयी। अब झटपट स्नान कर लीजिये। भोजन का समय हो गया।"

मैं अचकचाकर खड़ा हो गया। सम्भव था कि स्नान के लिए चल ही देता, किन्तु मेरे मुँह से निकल गया--"अगर तकलीफ़ न हो तो उर्वशी, एक कप चाय तुम इस समय मुझे पिला ही दो।"

घूमकर वह बोली--"अच्छा! यह अच्छी सलाह आप लोगों ने कर रक्खी है। आप भी मुझे उर्वशी कहने लगे! ख़ैर, मैं चाय तो अभी भेजती हूँ। पर मुझे भय है कि इस बार भी आप कहीं सो न जायँ।"

वह चली गयी। मैं फिर यथास्थान बैठ गया। मिठास जो भीतर जमा हो रही थी, जान पड़ा, अब कुछ और घनीभूत हो गयी है। चन्दा भी आज अन्य दिनों की अपेक्षा कहीं अधिक प्रसन्न थी। किन्तु मेरा आशंकालु मन बारम्बार यही कह रहा था कि कहीं कोई ऐसी वस्तु संचित हो रही है, जिसका विस्फोट ज्वालामुखी से भी अधिक भयंकर होगा। हम सब मिलकर उस घटना की सृष्टि कर रहे हैं। थोड़ी देर में चाय की वही ट्रे फिर सामने आ गयी, जिसको सामने रखकर अन्त में स्वयं मैंने चाय ठंढी कर डाली थी। परन्तु इस बार मुझे इस विषय में अधिक सोचने का अवसर नहीं मिला; क्योंकि चन्दा भी तत्काल सामने आ गयी। प्याले में चाय ढालने के लिए मैंने हाथ बढ़ाना चाहा कि देखा, वह स्वयं चाय ढाल रही है। मैं चुप था और मन-ही-मन सोच रहा था कि इसी समय क्यों न इससे स्पष्ट रूप से कह दूँ कि जौहरीजी की तबियत तो अच्छी हो ही रही है, अब मुझे भी विदा होने की अनुमति मिल जानी

चाहिये। किन्तु चन्दा ने मेरा प्याला तैयार करने के साथ ही अपने लिए भी दूसरे प्याले में चाय ढाल ली। मैं सोचने लगा कि इससे पूर्व उस अवसर पर जब मैंने इससे अपने साथ चाय पीने का प्रस्ताव किया था, तो इसने अस्वीकार कर दिया था। परन्तु आज मेरे आग्रह किये बिना ही वह स्वयं जो इसके लिए तैयार हो गई है इसका क्या कारण है? कारण की छानबीन मैं अपने भीतर-ही-भीतर करने लगा। ज्यों ही उसका प्याला तैयार हो गया, त्यों ही प्रसन्नता से वह बोली—"देखिये मेरी चाय आपकी अपेक्षा अधिक गहरी है।"

उत्तर में मैंने धीरे-से कह दिया—"तबियत की बात है।"

उस समय चन्दा ने अपना प्याला होंठों से लगा लिया था। धीरे-धीरे वह उसे सिप कर रही थी। मेरी बात के उत्तर में वह मुसकराने लगी। बोली—"बात तो वास्तव में तबियत की ही है। अन्यथा आप जानते हैं, मैं चाय बहुत ही कम पीती हूँ।"

मैं इस विषय को अधिक बढ़ाना नहीं चाहता था। यदि ऐसी बात न होती, तो इस अवसर पर मैं यह कहे बिना न चूकता कि दुनियाँ में ऐसे बहुतेरे आदमी हैं, जो समझा करते हैं कि उन्होंने अपने आपको अच्छी तरह समझ लिया है। परन्तु वास्तव में दुनियाँ उन्हें क्या समझती है, अथवा दुनियाँ में उन्होंने अपने आप को किस रूप में उपस्थित किया है, इसका ज्ञान उन्हें नहीं होता। और जबतक किसी व्यक्ति को इस बात का ज्ञान नहीं होता कि दुनियाँ को उसने अपने कार्य-कलाप से क्या समझने दिया है, तब तक उसका यह दावा व्यर्थ है कि उसने अपने आपको अच्छी तरह समझ लिया है। क्योंकि आदमी की पहचान उसके कार्यों से होती है। यदि ऐसा न होता, तो पापी से पापी और दुष्टात्मा भी अपने विषय में यह समझने से कभी न चूकता कि वह एक महापुरुष है। मैंने पूछना चाहा कि क्या इसका यह अर्थ नहीं है कि इसी प्रकार जीवन को भी आपने अभी तक बहुत ही कम पिया है? किन्तु यह प्रश्न भी मैं कर नहीं सका। धीरे-धीरे मैं चाय

पी रहा था। मुझे चुप देखकर अब उससे चुप नहीं रहा गया। बोली—"आज आप कुछ बोल नहीं रहे हैं? क्या बात है. कुछ तो बतलाइये।"

मैंने देखा, अब मुझे कुछ कहना ही चाहिये। परन्तु ऐसी कोई बात मैं कह न सका, जो मेरी प्रेरणा से भिन्न होकर कृत्रिमता से लदी होती। मैंने कह दिया—"सच बात तो यह है कि कई दिनों से मैं तुमको समझने की चेष्टा में हूँ। परन्तु अभी तक मैं कुछ समझ नहीं सका।"

चन्दा ने प्याला ख़ाली कर दिया। कुर्सी से उठकर अब वह दर्पण के सामने जा पड़ी। एक क्षण अपना मुख देखकर साड़ी से सिर को ढकती हुई बिल्कुल नवबधू-सी बनकर बोली—"मैं इस समय कोई गम्भीर बात नहीं सुनना चाहती।"

मैंने लक्ष किया कि चन्दा की मुद्रा उस समय कुछ म्लान हो गयी है। मैं अभी उसकी ओर कुछ और देर तक शायद देखता रहता, परन्तु वह घूमकर वातायन के पास जाकर खड़ी हो गई और बाहर का दृश्य देखने लगी। विषय बदलने की दृष्टि से मैंने पूछा—"आज तो जौहरीजी को पथ्य दिया गया है न?"

वह बोली—"पथ्य देकर ही मैं यहाँ आयी थी।"

अब तक उसका सिर साड़ी से पूर्ववत् आवृत था। पर अब साड़ी पुनः कन्धे से आ लगी। केवल यह जानने की इच्छा से कि वह बाहर देख क्या रही है, मैं उसके पास थोड़ा अन्तर देकर खड़ा हो ही रहा था कि तुरन्त घूमकर वह मेरे दायें ओर हो गयी और एकदम से सीधा प्रश्न कर बैठी—"अच्छा बिहारी बाबू, आप तो मुझे सदा के लिए भूल ही चुके थे। उस दिन मैंने ही आपको उस घटना का स्मरण दिलाकर पुनः आप से यह निकटता स्थापित कर ली।"

बात कहते-कहते उसका कण्ठ भर आया।

मैंने कह दिया—"हाँ. इसमें तो दूसरा मत हो ही नहीं सकता। पर यहाँ हम यह क्यों भूल जायँ कि आज भी हम दूर ही दूर खड़े हैं। निकटतम होने की सम्भावना आज भी तो नहीं है। मैं तो बल्कि कहने

ही वाला था कि अब मुझे विदा होने की अनुमति दें, तो अच्छा हो।"

तत्काल उसकी आँखों से टप् टप् अश्रु झरने लगे। रूमाल से पोंछते हुए वह बोली—"अगर मैं ऐसा जानती···।"

उस समय वह और आगे कुछ कह नहीं सकी।

* * *

दूसरे दिन सायंकाल की बात है। हम लोग जौहरीजी के कमरे में बैठे हुए चाय पी रहे थे। अन्य अवसरों की अपेक्षा आज की बैठक काफ़ी गरम थी। इसका एक कारण यह भी था कि दोपहर को ही दो नौकरों के साथ रम्भा आ गयी थी। वह वय में उर्वशी से कुछ अधिक है। शरीर से भी कुछ अधिक मांसल। वर्ण श्वेतगुलाब का-सा। नयनों में घना काजल आँज रक्खा था। यों भी उसके नयन असाधारण रूप से बड़े हैं। कानों में लटकते झूमरों के स्थान पर सफेद मोतियों से जड़ी तरकियाँ। भाल पर लाल टिकुली सदा लगाये रहती है। परिधान रंगीत न होकर श्वेत रहता है। बातें करने की अपेक्षा सुनती अधिक है। उर्वशी ने जब मेरा परिचय कराया, तो हाथ जोड़कर बोली—"आप सब तरह से अपने बन्धु हैं। ऐसे अवसर पर आप न आ जाते, तो हम लोगों के सुहाग की रक्षा कैसे होती!" मैंने देखा, उर्वशी के भीतर जिस स्थान पर निरन्तर द्वन्द्व छिपा बैठा रहता है, इसमें वहाँ एक अटूट निष्ठा का निवास है। जो कुछ भी इसे प्राप्त है उसको यह पूर्ण मानती है। कमती-बढ़ती या पूरे-अधूरे का वहाँ जैसे कोई प्रश्न ही नहीं है। अभाव के स्थान को संतोष और तृप्ति ने अधिकृत कर रखा है। उसको इस रूपमें देखकर मेरे भीतर श्रद्धा उत्पन्न हो आयी।

मैंने उत्तर में कह दिया—"कृतज्ञता के इतने बड़े दम्भ का पात्र मैं नहीं हूँ। रक्षा की है चौधरीजी की अपनी जीवनी शक्ति ने। हम लोग तो उसके रास्ते चलते एक पथिक की भांति अपनाये हुये साधन हैं। माना कि साधनों के अभाव में मनुष्य असहाय हो जाता है। किन्तु फिर समाज और है किस दिन के लिये?"

जौहरीजी मेरी ओर देखकर मुसकराने लगे। अन्तर का द्वार-सा खोलते हुए बोले--"खूब ! एक मित्र तो ऐसा मिला, जो बात-बात में ईश्वर की दुहाई नहीं देता। मनुष्य के सारे प्रयत्न, साहस और हौंसलों को ये लोग पहले एक जगह गिरवी रख देते हैं, उसके बाद मुंह खोलते हैं। मैं तो इनसे ऊब गया हूँ।"

कल दोपहर को जब से चन्दा के टपकते आँसू देखे हैं, तब से भीतर-ही-भीतर एक ज़हर-सा भर गया है। बारम्बार घूम फिरकर एक ही बात अन्तःकरण से फूट पड़ना चाहती है। यह धर्म क्या चीज़ है जी? क्या यह इसलिये है कि मनुष्य अपनी स्वतन्त्र इच्छाओं का गला घोंटकर जिये?

अतएव जौहरीजी की बात मुझे अत्यन्त प्रिय मालूम हुई, यद्यपि मैं यह मानता हूँ कि उनका जीवन प्रतिक्रियाओं से भरा हुआ है।

कुछ स्थिर होकर रम्भा के कन्धे से लगकर चन्दा बोली--"चलो, तुम्हारे मन का एक आदमी तो हमारे वर्ग में मिला। पर हम तो अबला ठहरीं। न हमारे संस्कार ऐसे हैं, न हमारी सीमाएँ ऐसी कि हम जीवन को उछालकर चल सकें।"

संभव था कि चन्दा इस सिलसिले में आगे भी कुछ कहती, किंतु उसी क्षण उठती हुई रम्भा बोल उठी—"आप से भेंट खूब हुई भाई जी। अभी तो आप कुछ दिन रहेंगे ही। फिर बातें होंगी।"

"कहाँ? कल ही आप जाने की अनुमति माँग रहे थे। अच्छा हुआ जो तुम आ गयीं। अब अपनी बहिन की अनुमति पाये बिना तो जा नहीं सकते।"—कहती हुई चन्दा बजाय मेरी ओर देखने के जौहरी जी की ओर देखने लगी।

तब जैसे अधिकार और अहंकार के स्वर में जौहरी जी बोले--"जी, अभी परसों आप से परिचय हुआ है और आज ही आप चले जाना चाहते हैं! और इजाज़त माँग रहे हैं उनसे, जो घड़ी-दो-घड़ी की बात-चीत के बाद अपने बनाव-शृङ्गार की ताज़गी के लिये मैदान छोड़कर भाग खड़ी

हुआ करती हैं। अभी मेरी और आपकी बातें तो हुई ही नहीं। इतमीनान से बैठने का भी मौक़ा नहीं मिला। अभी आपको कम-अज़-कम तीन हफ्ते और रहना है। चाहे इस कान से सुनिये, चाहे उस कान से।...आपको विम्टो की एक दर्जन बोतलें मँगवा देना रम्भा रानी। समझती हो कि नहीं? अच्छा, मैं अब ज़रा आराम करूँगा भाईजान!"

चन्दा खिलखिलाती हुई हँसने लगी। दरवाजे से गुज़रती हुई जब वह मेरे आगे चल रही थी, एक बार बीच में ठिठुककर बोली—"अभी इतमीनान से बैठने का मौक़ा तो आया ही नहीं। इस बात का क्या अर्थ हुआ, सो जानते हैं?"

मन में आया कि पूछ लूं—"अर्थ लगाते समय पुरातन संस्कारों की दुहाई तो न दोगी?" किन्तु फिर यही सोचकर इस बात को टाल गया कि जाने भी दो। अपने को इतना सस्ता न बनाओ!

आज रात को मैंने फिर बंशी बजाई। कई दिनों से न तबियत में उत्साह था, न वैसा वातावरण। आज चन्दा ने भी याद दिलायी थी। कहा था—"यह बंशी बेचारी क्या कहती होगी!" मेरे मुंह पर आते-आते रह गया—"जो सपनों में चन्दा देखा करती है।" उसने फिर पूछा—"बोले नहीं बिहारी बाबू!" मैंने कहा—"जाने भी दो। वह कुछ नहीं कहती। कहेगी क्या? मनुष्य जब अपनी बात कहते डरता है, अपना हृदय खोलते संकुचित होता है और रात-दिन अपने नाश के ही खेल खेलते रहने में धर्म और आदर्शों की रक्षा मानता है, जो चेतन प्राणी है, तब बंशी बेचारी क्या करे। वह तो फिर भी जड़-पदार्थ ठहरी।"

दृष्टि में अन्तर पड़ गया। भृकुटियों पर तनाव आगया। कपोलों पर लाली दौड़ गयी, निचला होंठ हिल उठा, मुंह खिड़की के बाहरी दृश्य की ओर से हटकर एकदम से सामने आ गया। कुछ खिचाव-सा शरीर भर में व्याप्त हो गया। एक ऐंठन-सी झलक पड़ी। बोली—"क्या मतलब?"

मैंने धैर्यपूर्वक कहा—"बैठो तो बतलाऊँ, क्या मतलब है। बचपन की एक घटना का स्मरण हो आया है।"

वह सामने बैठ गयी।

मैंने कहना शुरू किया—"मैं उन दिनों गाँव में रहता था। घर में माता, पिता बहन के अतिरिक्त बड़े भाई भी थे। हम लोगों का एक कच्चा घर था। दरवाज़े पर दो बैलों की जोड़ी। एक नीला बैल उसमें बड़ा तेज़ था, सुन्दर भी। डील-डौल में काफ़ी ऊँचा और तगड़ा; पर सींग बहुत छोटे। चाल में जैसा तेज़, प्रकृति में वैसा ही उग्र। एक बार नौकर ने दोनों के आगे दाना छोड़ने में ज़रा-सी भूल कर दी। पहले उसने दूसरे बैल के आगे दाना छोड़ दिया। पर उसके आगे घर के भीतर से दाना लाकर छोड़ने में उससे कुछ देर हो गई। उसके बाद जब वह उसके आगे दाना छोड़ने को आया तो उसने एक अद्भुत दृश्य देखा। एक ओर वह नीला बैल दूसरे बैल की जगह डटा हुआ उसके आगे का दाना साफ़ कर रहा था, दूसरी ओर उसी ढेर में खून छितराया हुआ था। ध्यान से देखने पर पता चला कि उसने अपनी वह रस्सी तोड़ डाली है, जिसमें वह बँधा हुआ था, जो उसके नथुनों के भीतर से होकर गर्दन की ओर जाती थी। भूसे और दाने के उस ढेर पर उसके नथुनों से अब भी खून टपक रहा था। उसने यह भी देखा कि रस्सी तोड़ने में उसके नथुनों के भीतर घाव हो गया है!

"बड़े भैया उस समय जीवित थे। वे उस बैल को बड़ा प्यार करते थे। उन्होंने जब यह हाल सुना तो वे तुरन्त उसके पास आये। उसकी पीठ ठोंकी। गर्दन को हाथों से सुहलाया और उसका मत्था चूम लिया। नौकरों को बुलाकर डाँटते हुए बोले—"अगर तुम मेरे इन दोनो हाथों के भावों (सेंटीमेंट्स) की इज़्ज़त नहीं कर सकते, तो तुम आदमी नहीं हो। और अधिक मैं तुमको इस समय कुछ नहीं कहना चाहता।"

मैं उस समय वहाँ उपस्थित था। और मैंने स्पष्ट देखा था, उनकी आँखों में अश्रु भर आये थे।

सुनकर चन्दा स्तब्ध हो उठी। मैं भी चुप हो गया। दो मिनट बाद मैंने मूकता भंग करते हुए कहा—"मतलब यह कि आज हमारे समाज में ऐसे कितने व्यक्ति हैं, जो अपना अधिकार स्थापित करने में उस बैल की भी समता कर सकें, जो विवेक में सर्वथा हीन कोटि का था। —मतलब यह कि जो व्यक्ति अपने जीवन से असन्तुष्ट होने पर भी दम घोंट-घोंट कर रहता है, विद्रोह नहीं करता, वह उस बैल से भी गया-गुज़रा है!" मतलब यह कि...।"

मैं अभी और भी कुछ कहने जा रहा था कि चन्दा ने कानों पर हाथ रखकर कहा—"बस कीजिये बिहारी बाबू; इसके आगे कुछ मत कहिये। कहने की ज़रूरत नहीं है।"

* * *

दूसरे दिन की बात है। मैं जौहरीजी के साथ चाय पी रहा था। आज हमारी गोष्ठी में चन्दा नहीं थी। प्रातःकाल से ही उससे भेंट नहीं हुई थी। पूछने पर मालूम हुआ था, कुछ तबियत ख़राब है, शैया से उठी नहीं। रम्भा से नया परिचय हुआ था। पर वह बात कम करती थी। जौहरीजी आज कुछ और स्वस्थ थे। उन्हीं से देर तक बातें होती रहीं। घुमा-फिराकर बारम्बार इसी विषय को समझाना चाहते थे कि उन्होंने ये तीन बीवियाँ क्यों रख छोड़ी हैं। मैं इस सम्बन्ध में आलोचना करना नहीं चाहता था। मुझे अब विदा लेनी थी। चलते-चलाते किसी तरह की कटुता मैं अपने बीच उत्पन्न नहीं करना चाहता था। संयोग से रम्भा ने एक बात कह दी। वह बोली—"मुझको तो आप देख ही रहे हैं। मुझे न बड़ी बहू से कोई शिकायत है, न छोटी से। बल्कि छोटी के बिना तो मेरा जीवन ही सूना हो जाता।"

इस बात का कुछ उत्तर न देकर मैं चुप ही रहा। चुप तो रहा, किन्तु बात एकाङ्गीपन को लेकर किंचित् हास मेरे मुख पर आ ही गया। जौहरीजी ने इसको लक्ष्य किया। तपाक से बोले—"बको मत, सब समझता हूँ। यह सरासर चापलूसी है, जिससे मैं नफ़रत करता हूँ। असल बात कुछ

और है। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि इन लोगों में कभी-कभी घोर कलह भी हुआ है। साथ ही मैं यह भी क्यों न कह दूँ कि यदि ये परस्पर सद्भाव ही रखती हैं, तो भी यह अपवाद है। साधारणतः ऐसा नहीं होता। ख़ैर, इस विषय को यहीं छोड़ दीजिये। मैं मानता हूँ कि समाज की दृष्टि में मैं किसी प्रकार निरपराध नहीं ठहर सकता। लेकिन मैं दूसरा उदाहरण आपके सामने रखता हूँ। मेरे एक मित्र हैं। पहले एक हाई स्कूल में हेडमास्टर थे, अब स्कूल इंटरकालेज हो गया है और वे उसमें प्रिंसिपल हैं। नाम जानकर क्या कीजियेगा? कल्पना कीजिये, उनका नाम श्रीकृष्ण है। उनका विवाह हुए बारह वर्ष हो गये। दो-तीन संतानें भी हैं। बड़ा लड़का नौ वर्ष का है और स्कूल में पढ़ रहा है। छै और चार वर्ष की दो लड़कियाँ और हैं। पत्नी और उन बच्चों को त्यागकर अभी दो महीने पूर्व उन्होंने एक कश्मीरी युवती के साथ विवाह कर लिया है। बोलिये आप क्या कहते हैं? उनको जाति से बाहर कर दीजियेगा? जाति में रहकर ही उन्हें क्या मिल जाता? जाति उनके लिए क्या करती है? मैं तो समझता हूँ कि स्वतंत्र विचार —और इच्छाशक्ति—रखनेवाले व्यक्तियों की एक अलग जाति होती है। और मैं भी उसी जाति का हूँ। समाज के नियमों का दम्भ मैं ख़ूब जानता हूँ। अगर मैं केवल एक मेनका के साथ विवाह करने के बाद भी इसी रम्भा को प्रेमिका के रूप में रखता, तो समाज की दृष्टि में क्या अपराध करता? फिर मेरी अपनी एक अलग स्थिति भी तो है। मैं सोच-समझकर चलने का आदी ही कभी नहीं रहा। पैर जिधर पड़ जायँ, उसी ओर मेरा पथ रहा है। प्रिंसिपल साहब पर जिम्मेदारी इस बात की है कि वे बच्चों के भरण-पोषण का ख़र्च देते रहें। सो उन्हें देना ही पड़ेगा। इसके बाद कुछ नहीं। जीवन में जब तक रस है, आकर्षण और तृप्ति है, तभी तक उसके साथ हम अपना सम्बन्ध मानते हैं। उसके बाद सब बेमानी है।"

रम्भा इस पर बिगड़ उठी। बोली—"यह सरासर बेईमानी है। मनुष्य का यदि यही रूप मान्य हो, तो वह जानवरों की कोटि में चला

जायगा। मैं इसका कभी समर्थन नहीं कर सकती।"

इसी समय द्वार का पर्दा हिला और चन्दा सामने आ पहुँची। दृष्टि पड़ते ही मैंने लक्ष किया, आँखों पर लाली छायी हुई है। मुख पर उल्लास के स्थान पर गम्भीरता की छाप है। ऐसा जान पड़ा, मानों कई दिनों की बीमारी के बाद उठी है। एक बार यह भी सोचा कि हो-न-हो, चन्दा आज रात-भर सोई नहीं है। भीतर-ही-भीतर जैसे रोती रही है। जल के बिना जैसे मछली तड़पती है, इसकी रात भी पलँग पर व्याकुल हो-होकर करवटें बदलते, रोते-कलपते बीती है।

इसी समय रम्भा ने पूछ दिया—"कैसी तबीयत है?" और कथन के साथ ही बदन पर हाथ रख दिया।

ऊपर से अन्दर की स्वस्थता का भाव प्रकट करने की इच्छा से चन्दा के अधर थोड़े खिलने को हुए, किन्तु फिर आप ही रुक गये। बात टालती हुई-सी एक बार भृकुटियों पर बल देकर बोली—"तबीयत को क्या होना है! रात को नींद ज़रा देर-से आयी। इसीलिये...।"

रम्भा और चन्दा की बात से जौहरीजी के कथन के ताव पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वे बिना रुके अपनी बात कहते ही गये। हाँ, बीच में एक बार ज़रा-सा चन्दा की ओर देख-भर लिया।

—"समर्थन की परवा करके मैं बात नहीं करता। जानवरों की कोटि में ज़िन्दगी की जो ताज़गी है, मैं उसे मनुष्य के लिये आवश्यक मानता हूँ। मनुष्य का कोई गुण जानवरों से मिल जाता है, यह कह देने से ही न मनुष्य जानवर हो जायगा—न जानवरों में इस गुण की अधिकता होने के कारण वह गुण ही अवगुण।"

रम्भा बोली—"तुम्हारे पास एक ही राग है—भोग। तुम नहीं जानते; त्याग भी कोई चीज़ है। मैं तो त्याग में भी एक तृप्ति देखती हूँ। तुम नहीं देख सकते, न देखो। मैं देखती हूँ।"

जौहरीजी मुसकराने लगे। बोले—"यह तुम्हारा निजी स्वर नहीं है। इसके अन्दर तुम्हारे संस्कार बोल रहे हैं।"

"तुम निजत्व को संस्कारों से परे देखते हो।" रम्भा बोली—"मैं नहीं देखती।...लेकिन हमारे बिहारी भाई तो कुछ बोल ही नहीं रहे। केवल तमाशा देख रहे हैं।" बात पूरा करती हुई इस बार वह भी मुसकराने लगी।

जौहरीजी बोले—"हाँ भई, यह क्या बात है? आप क्यों चुप हैं?"

मैं कुछ कहने जा ही रहा था कि चन्दा बोल उठी—"वे इस समय दूसरे लोक में हैं। घर की याद हो आयी है। आप लोग उन्हें जाने ही नहीं देते।"

अब रम्भा से न रहा गया। बोली—"यह तुम्हारा मेरे साथ अन्याय बहूरानी। मैं इन्हें अभी दस दिन तो जाने न दूँगी।"

मुझको भी एक धक्का लगा। स्पष्ट जान पड़ा कि चन्दा मुझे विदा करना चाहती है। तब भीतर-ही-भीतर संचित हुई सारी मिठास एक कड़ुवाहट के रूप में परिणत हो गयी। सोचने को विवश हो गया कि सब कोरी बनावट थी। काम निकल जाने के बाद संसार में ऐसा ही होता भी है। चन्दा विश्व की इस रचना का अपवाद नहीं है। कभी-कभी भीतर जो एक सात्विक भावना उभर उठती थी कि क्यों अपने को इस तरह गिराया जाय, उसको बल-सा मिला। फलतः मैं सोलह आना आदर्शवादी बन गया। शान्त गम्भीर भावना से मैंने कह दिया—"नहीं, अब और रुकना मेरे लिए सम्भव नहीं है। आज ही सायंकाल की ट्रेन से जाऊँगा।...पर जो विषय इस समय यहाँ विवाद के रूप में उपस्थित है, उसके प्रति अपनी सम्मति भी आप से प्रकट कर देना चाहता हूँ।...आज बहुविवाह और विवाह-विच्छेद को *लेकर हमारे देश में जो घटनाएँ हो रही हैं, वे वास्तव में उस जड़ता के* विरोध में हैं, जिससे आज हम सब बुरी तरह बँधे—बल्कि जकड़े—हुए हैं। विवाह की आधुनिक परिपाटी ने हमारे जीवन को निर्जीव कर रक्खा है। क्षमा कीजियेगा, मैं इस विषय की समीक्षा वैज्ञानिक दृष्टि से करना चाहूँगा। अगर हम यह जान लें कि पुरुष और नारी का सम्बन्ध जितना

मानसिक है, शारीरिक उससे किसी प्रकार कम नहीं है; तो इस विद्रोह में हमें पीड़ित मानवता के चीत्कार और जागरण के ही चिह्न मिलेंगे। दो में से कोई भी एक जब दूसरे को तृप्ति नहीं दे पाता, तभी वह उसके लिए असंतोष और अतृप्ति का कारण बनता है। और अतृप्ति देकर भी जो संस्कृति मनुष्य को कोरे त्याग का उपदेश देती है, वह आधारहीन,दुर्बल और अन्दर से खोखली है। जब मनुष्य उसका निर्वाह नहीं कर पाता, तभी वह साथी के प्रति अविश्वास का पात्र बनने को विवश होता है।

रम्भा इसी क्षण बोल उठी—"परन्तु आपने मानसिक तृप्ति की बात भी तो साथ-ही-साथ कही थी। मैं उसी को आध्यात्मिक मानती हूँ।

मैंने कहा—"हाँ, वह मानसिक तृप्ति भी आकर्षणों से होती है। उसका सम्बन्ध सौन्दर्य्य-भोग के साथ है। ऐसा भी होता है कि कोई नारी किसी पर-पुरुषके गुणों पर ही मुग्ध होकर कभी उसका सान्निध्य मात्र चाहती हो, केवल उसकी संगति। पर आज की विवाह-प्रथा की सर्वस्व-स्वाहामयी परिपाटी ने इसको भी दुर्लभ कर दिया है। ऐसा भी होता है कि एक सेक्स शरीर से ही किसी प्रकार हीन, असाधारण या अति साधारण होकर विरोधी सेक्स के अयोग्य बन गया हो। ऐसी दशा में दूसरे को अपना साथी चुन लेना उसका एक स्वाभाविक मानवीधर्म हो जाता है। पर आज की विवाह-रीति ने उसको भी कलुष का रूप दे रक्खा है। जिस समय विवाह-प्रथा का आविष्कार समाज की एक अनिवार्य्य आवश्यकता की पूर्ति का कारण बना, उस समय का समाज एक तो आज के समाज से नितान्त भिन्न था, दूसरे उस समय उस विवाह-प्रथा में भी ऐसे प्रतिबन्ध न थे। आज के इन प्रतिबन्धों ने ही इस विद्रोह की सृष्टि की है। इसलिए जब तक समाज का यह संगठन ध्वस्त नहीं होता, तब तक आदर्श विवाह-सम्बन्धों की कल्पना करना केवल स्वप्न देखना है।"

रम्भा से न रहा गया। वह बोली—"क्षमा कीजियेगा, यह सोलह आना वस्तुवादी दृष्टिकोण है।"

मैंने देखा, उस समय चन्दा का मुख बात-की-बात में उज्ज्वल हो उठा। एक बार उसके अधरों में कम्पन भी हुआ। क्षणभर के लिये एक लघुविकसित-हास भी उस पर झलक पड़ा। परन्तु फिर क्षणभर के बाद ही उसपर गम्भीरता की गहरी छाया स्पष्ट देख पड़ने लगी।

कुछ ठहरकर जौहरीजी बोले—"मैं भी इसी वर्ग का हूँ बिहारी बाबू। मुझ को आप दूर न समझियेगा।"

बैठक यहीं विसर्जित हो गयी और जौहरीजी के साथ यह हमारी अंतिम बैठक थी। सायंकाल की ट्रेन से मैंने फिर आगरा आकर गोपालदादा का साथ पकड़ा। चलते समय जौहरीजी बोले—"मैं आपको रोक नहीं सकता; क्योंकि मैं स्वयं इसी प्रकृति का हूँ। किन्तु हम लोग फिर मिलेंगे, यह निश्चित है। आपकी कृपा का मुझे सदा स्मरण रहेगा। आपकी भेंट और मित्रता से मैं गौरव का अनुभव करूँगा।"

रम्भा मुझे स्टेशन तक भेजने आयी थी। बार-बार कहती थी—"अब की बार बहन जी को भी ज़रूर साथ लाइयेगा! किसी तरह का संकोच न कीजियेगा।" ज़बरदस्ती ढेर-के-ढेर फल डोलची में रखवा दिये। चन्दा के लिये कई बार कहा--"बहू रानी को आपका जाना बहुत अखर गया। जीवन में कई बार ऐसे मौक़े आये हैं, जब पहले उसी ने मेरा विरोध किया, परन्तु बाद में फिर उसी को सब से अधिक दुःख हुआ। मैं जानती हूँ, आपको इतनी जल्दी भेजने में उसी का आग्रह है, उसी का अन्तर्द्वन्द।"

रम्भा उस समय क्या कह रही थी, यह अच्छी तरह समझ में आ रहा था। पर यह आत्म-प्रवञ्चना है। जीवन का क्षय इसी तरह होता है।

जब ट्रेन चलने लगी, तो रम्भा की आँखें छलछला आयीं।

चन्दा ने घर से ही विदा दी। एकान्त में वह मुझसे नहीं मिली। विदा के क्षण उसने गोस्वामी तुलसीदास की एक चौपाई सुनादी—"मिलत एक दारुण दुख देहीं—बिछुड़त एक प्राण हर लेहीं।" यों वह उस समय परम प्रसन्न देख पड़ती थी। मैं मन-ही-मन

उसके विषय में बहुत दिनों तक यही सोचता रहा कि उसने उस समय अटूट संयम का परिचय दिया। मैं उससे ऐसी आशा नहीं करता था। मैं नहीं जानता था, वह ऐसी दृढ़चरित्र रमणी है। मैं तो उसके लिए कुछ और ही सोचता था—कुछ और ही।

आगरा आकर जब मैं गोपालदादा के साथ आ मिला, तो कई दिनों तक मेरी स्थिति जलहीन-मछली की-सी हो गई थी। गोपाल दादा ने मुझसे सारा हाल-चाल जानना चाहा। पर मैं सब गोल कर गया। सदा मैंने यही उत्तर दिया—"आत्मीय लोग हैं और अच्छी तरह हैं। कोई ख़ास बात नहीं है।"

इस यात्रा ने मुझे जड़ बना दिया है। जितना आनन्दित हुआ उससे कहीं अधिक दुःखी।—जितनी मिठास इसने मुझे दी, उससे कहीं अधिक कटुता। जीवन में एक ऐसी उदासीनता छाकर रह गई है कि सारा विश्व बिल्कुल व्यर्थ जान पड़ता है। किसी काम में जी नहीं लगा रहा है। मकान, दरवाजा, गली, सड़क, शहर, इष्ट-मित्र, परिचय और आत्मीयता कहीं कुछ नहीं अर्थ रखती। जान पड़ता है, विश्व मानवता के नाते एक महाशून्य है। एक छोर से दूसरे छोर तक सन्नाटा-सा छाया है। घरों और बस्तियों के स्थान पर समाधियाँ बनी हैं। केवल कुत्ते और सियारों के स्वर सुनाई पड़ते हैं। केवल सर्पों की लपलपाती जिह्वाएँ और हिंसक जन्तुओं की नाना भयावनी चेष्टाएँ मैं देख रहा हूँ।

परन्तु आज अभी-अभी चन्दा का यह तार मुझे मिला है—

"जौहरीजी एक अभिनेत्री के साथ कश्मीर की सैर को गये हैं। तुम फौरन चले आओ, अगर मुझे जीवित रखना चाहते हो।

उर्वशी

C/O हिमालय होटल, मसूरी"

अब ?— — — —

घटना-चक्र

[१]

फ्रांटियर-मेल ट्रेन हवा से बातें करती हुई चली जा रही थी। कैलाशनाथ इंटर-क्लास के एक डब्बे में बैठा हुआ था। जिस बेंच पर वह बैठा हुआ था, वह खिड़की की ओर थी। उसका सिर डब्बे के एक छोर के तख्ते से छूता हुआ था। बिस्तरा पूरी बेंच पर फैला हुआ था। उसके बाद उस बेंच पर केवल एक यात्री सिकुड़ा बैठा था। दूसरी बेंच पर, जो उसके ठीक सामने थी, एक युवती बैठी हुई थी। मदिर यौवन की आभा उसके अंग-अंग से फूटी पड़ती थी। सावन के मेघ जैसे गरज-गरजकर बरसते हैं, उसका सौंदर्य भी उसी भांति गरजता-सा हुआ दिखलाई पड़ता था।

कैलाशनाथ में गम्भीरता छू भी न गई थी। हृदय-सरिता के साथ इठला-इठलाकर तैरना उसका नित्य का अभ्यास था। अपने भीतर कुछ संचित करके रखना उसने सीखा ही न था। संसार को मानवी प्रयोगों और अनुभवों का एक क्रीड़ा-क्षेत्र भर वह मानता था।

बड़ी देर तक कैलाश उस रमणी की सुगठित देह-राशि तथा आकर्षक वेश-विन्यास को देख-देखकर उसके नयन-कटोरों में भरे हलाहल को

पीता रहा। अंत में जब उसका जी न माना, तो वह उस रमणी से यह कह ही बैठा—"शायद आप अकेली ही चल रही हैं।"

उसने मृदुल स्वर में कहा—"जी, आप ठीक सोच रहे हैं।"

ऐसा मोहक रूप और फिर इतना कोमल स्वर! कैलाश स्तंभित हो उठा। पर दो मिनट तक ही वह स्थिर रहा, फिर उसने पूछा—"कहाँ जाना है आपको?"

"जी; मैंने तो लहोर जाना है।" उस पंजाबी रमणी ने उत्तर दिया।

"लाहौर मुझे भी जाना है। मैंने आपको कहीं देखा भी है; पर याद नहीं आ रहा है, कहाँ देखा है।" कहता हुआ कैलाश जान-बूझकर बातें बढ़ाने लगा। वह यह समझकर मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हो रहा था कि किसी नवयुवती से परिचय और घनिष्टता सम्पादित कर लेना मेरे लिए कितना सरल है! बल्कि उसका यह कौशल उसके लिए धीरे-धीरे एक अहंकार बन गया था।

अपनी अनंगलता सी देह-राशि के रोम-रोम को किंचित् उन्मीलन देकर उस आलुलायित-कुंतला रमणी ने बाईं ओर की साड़ी के छोर को नीचे की ओर ज़रा-सा खिसक जाने दिया।

अपने रेशमी कुर्ते के ऊपरवाले छपहलू सोने के बटन को खोलकर कैलाश खिड़की की ओर झुककर कुछ देखने-सा लगा।

तब उस रमणी ने कह दिया—"मुमकिन है, कहीं देखा हो।"

"आपका दौलतख़ाना?" कैलाश ने उस रमणी की ओर देखकर पूछा।

"मेरा ग़रीबख़ाना आगरे में है।" उस रमणी ने कहा।

ज़रा-सा पुलकभाव दिखलाकर कैलाश बोला—"वही तो मैं सोच रहा था। आगरे में मैं बहुत दिनों तक रहा हूँ। लाला यमुनाप्रसाद का नाम तो आपने सुना ही होगा, शहर के नामी रईसों में-से हैं। उनके यहाँ मेरे भाई की ससुराल है।"

कैलाश यह कहते हुए ज़रा भी नहीं झिझका। इस बात को वह ऐसे सपाटे से कह गया, जैसे वह उस ससुराल से अभी-अभी लौटा हो। और उधर वह रमणी भी ज़रा-सा मुसकराने लगी।

कैलाश बोल उठा—"क्या आप समझती हैं, मैं आपसे यह बात यों ही बनाकर कह रहा हूँ?"

अब तो उस रमणी के दाड़िम-दशन झलक पड़े। बिहँसते हुए वह कहने लगी—"मैं भला ऐसा क्यों समझूँगी! आप ही फ़िज़ूल शक डालने वाली बात कह रहे हैं।"

कुछ देर बाद कैलाश प्रसंग बदलते हुए बोला—"माफ़ कीजियेगा, आपका नाम?"

रमणी ने अपनी देह को ज़रा लहराते हुए, कुछ सिकुड़कर, कुछ शरमाकर उत्तर दिया—"जी, मेरा नाम तो संध्या है।"

मुग्ध होकर कैलाश मन-ही-मन कह उठा—"वाह! तुम्हारा नाम भी कैसा सुन्दर है! बिलकुल तुम्हारी छवि के अनुरूप ही है!" फिर कुछ भोलापन दिखलाकर बोला—"मैं लाहौर जा रहा हूँ। मेरा यह सफ़र लाहौर के लिये पहला है। मैंने लाहौर का बड़ा नाम सुना है। कहाँ ठहरूँगा, कुछ तै नहीं। नावाकिफ़ होने के कारण, यही ज़रा दिक़्क़त है।...धर्मशाले तो वहाँ होंगे ही?"

संध्या बोली—"जी, धर्मशाले तो ख़ैर हैं ही; पर अगर मेरे यहाँ ठहरने में कोई हर्ज न समझें, तो मैं ही आपकी ख़िदमत के लिये तैयार हूँ।"

कैलाश का रोम-रोम पुलकित हो उठा। वह नाना भाँति की मधुर कल्पनाओं के हिंडोलों में झूलने लगा।

[२]

"यह भ्रमर-वृत्ति भी भगवान की अद्भुत सृष्टि का एक सजीव उदाहरण है। परिचय चाहे कुछ ही क्षणों का क्यों न हो, पर जनाब

किसी की तबीयत को क्या कीजियेगा ? जब वह मचल ही पड़ी, तो फिर किया क्या जाय ! खूब समझ-सोचकर क़दम रखनेवाले लोगों को मैं अच्छी तरह जानता हूँ । अजी, ऐसे लोगो को मैं आदमी नहीं मानता । आदमी तो वह है, जो हमेशा तरोताज़ा रहे । जो उसके मन में आये सो कर उठाये । अक़्ल के बोदे और तबियत के मुर्दा लोग ही ज़्यादातर भला-बुरा सोचकर चलते हैं ।"—कैलाश के मन में बारम्बार आ रहा था ।

रात हो गई है । लोग इतमीनान के साथ सो रहे हैं । पर कैलाश की आँखों में नींद कहाँ ! बार-बार करवटें बदल रहा है, नींद आती ही नहीं । एक बार संध्या की ओर देखा, तो पता चला कि वह भी आँखें बन्द किये हुए लेटी हुई है । वह एक झीनी रेशमी चादर से अपने को यद्यपि आपाद-मस्तक ढके हुए हैं, तथापि उसके अलसाए हुए यौवन के प्रशान्त अवयव भी यदा-कदा अपनी उन्मद जागरूकता प्रदर्शित कर ही देते हैं ।

अकस्मात् करवट बदलते हुए संध्या कैलाश की ओर देखकर बोल उठी—"अरे ! आप तो जग रहे हैं ! मैं तो समझती थी, आप सोये हुए हैं ।"

कैलाश ने ज़रा शरमाते हुए कहा—"जी, सोने की कोशिश तो करता हूँ, पर नींद भी ग़जब का ग़रूर रखती है । आप सच मानियेगा, कभी-कभी घंटों इसी तरह कलपते बीत जाते हैं, लेकिन फिर भी जब वह आने को नहीं होती, तो नहीं ही आती है ।"

संध्या बोली—"बात यह है कि उसका ताल्लुक़ दिल से होता है ।"

"वाह ! क्या बात कह दी आपने ! लाख रुपये की बात है । बल्कि लाख रुपये भी आपकी इस बात के सामने कोई चीज़ नहीं हैं । वाक़ई, दिल की बात दिल ही जान सकता है । जिसके दिल नहीं, वह इन बातों की क़ीमत भला क्या समझ सकेगा ! लेकिन गुस्ताखी माफ़ कीजियेगा, आपने इस वक्त मेरे दिल की यह बात कैसे ताड़ ली ?"

संध्या मुसकरा दी। और कैलाश की मान्यता है कि प्रमदाओं की एक मुसकान भी भूकम्प से कम विनाशकारी नहीं होती।

संध्या उठ बैठी। वह गम्भीरतापूर्वक कहने लगी—"प्रेम कोई मामूली चीज़ नहीं। इसीलिये हर एक आदमी प्रेम कर भी नहीं सकता। यह वह नशा है कि सर पर चढ़ के बोलता है। ज़िन्दगी और मौत, अमृत और विष इसके लिये एक-साँ हैं। मुझे उन आदमियों से सख्त नफ़रत है, जिनके दिल का राज़ कभी खुलता ही नहीं। ऐसे आदमी बड़े ख़तरनाक होते हैं।"

कैलाश भी अब उठ बैठा था। वह अब बग़लें झाँकने लगा। उसकी समझ ही में न आता था कि वह अब क्या कहे। जब उसे और कुछ न सूझ पड़ा, तो वह कहने लगा—"जान पड़ता है, आपने मनोविज्ञान (Psychology) का अच्छा अध्ययन किया है। वास्तव में प्रेम के मूल-तत्त्व को स्त्रियाँ ही अपने जीवन में अच्छी तरह से दिखा सकने की अधिकारिणी हैं।...अच्छा, एक बात मैं आप से और जानना चाहता हूँ।"

"वह क्या ?" संध्या ने पूछा।

"आपकी शादी कहाँ हुई है ?"

"जी, मैंने अभी तक शादी नहीं की। शादी करने का मेरा विचार भी नहीं है।" संध्या ने कह तो दिया; पर साथ ही वह यह भी सोचने लगी कि मुझे यह बात इस समय प्रकट नहीं करनी थी।

कैलाश को ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे वह इस बात को किसी नीति-विशेष के आधार पर न कहकर अपने व्यक्तिगत जीवन के अनुभव से कह रही है। उसके यह सोचने का एक विशेष कारण यह भी था कि इस कथन के साथ संध्या के मुख पर आन्तरिक पीड़ा की स्पष्ट मुद्रा अंकित हो आई थी।

कैलाश बोला—"आप तो, जान पड़ता है, पहेली बुझा रही हैं। ज्यों-ज्यों मैं आपके विषय में जानकारी बढ़ाने की ओर बढ़ता जाता हूँ, त्यों-त्यों आप मुझे आश्चर्य-सागर में डुबोने लगती हैं।"

"जनाब, इसमें आश्चर्य की कौन-सीबात है?" संध्या बोली—"हज़ारों वर्षों से पुरुष स्त्रियों पर हुकूमत करते आये हैं। स्त्रियों ने पुरुषों की हुकूमत के नीचे पिसकर अपने को मिटा दिया है। स्त्रियों की हज़ारों वर्षों की ग़ुलामी का इतिहास इतना दर्दनाक है कि आजकल के पढ़े-लिखे और सभ्य कहलानेवाले लोग उस पर विश्वास तक करने को तैयार नहीं। लेकिन आज जो ज़माना आ रहा है, उसमें स्त्रियाँ पुरुषों की हुकूमत में रह नहीं सकतीं। आज हरएक पढ़ी-लिखी स्त्री के सामने यह सवाल है कि वह शादी क्यों करें।"

अब कैलाश भी विचार में पड़ गया। किंतु उसने कहा--"आपके विचार बिल्कुल पश्चिमी सभ्यता के रंग में रँगे हुए हैं। सच पूछिये तो इन विचारों में कुछ भी सार नहीं। जिस प्रकार मनुष्य के लिये स्वास्थ्य की अनिवार्य आवश्यकता है, उसी प्रकार जीवन की पूर्णता के लिये उसे एक स्त्री की भी आवश्यकता अनिवार्य है। स्त्री को पाकर पुरुष मनुष्यत्व के असली मर्म को समझता है। यदि पुरुष को स्त्री के संसर्ग का क़तई अवसर न मिले, तो मेरा तो यह पक्का विश्वास है कि वह दीर्घजीवन प्राप्त कर ही नहीं सकता। दाम्पत्य जीवन मनुष्य में अमरत्व की सृष्टि करता है। इसी प्रकार स्त्री के लिये पुरुष भी उतना ही ज़रूरी है, जितना पुरुष के लिये स्त्री। पुरुष को अपना हृदय दिये बिना स्त्री मानवजीवन के अमृत को पा ही नहीं सकती।"

संध्या बोली—"परन्तु दुनिया में ऐसे कितने पुरुष हैं, जो स्त्री की इज़्ज़त करना जानते हैं?"

कैलाश ने उत्तर दिया—"ज़रूर बहुत कम हैं। परन्तु इस विषय में मेरा विचार कुछ दूसरा है। मैं तो समझता हूँ कि स्त्री अपने-आप ही अपनी मान-मर्यादा बढ़ाने और घटाने का कारण होती है।"

"किस तरह?"

"यही समझाना ज़रा मुश्किल है; क्योंकि यह व्यावहारिक बात है। अगर आप मुझे माफ़ करें, तो मैं कहूँ।"

"जी, शौक़ से कहिये।"

"अगर आप मुझसे प्रेम करने लगें, और मुझे इस बात का इतमीनान हो जाय, तो आप मुझे अपना ग़ुलाम बना सकती हैं। मगर शर्त यह है कि प्रेम सच्चा होना चाहिये।"

संध्या कुछ देर तक मौन रही। एक कोलाहल-सा उसके भीतर उभरने लगा, एक हूक-सी उसके कलेजे से उठने लगी। क्षण भर में उसने कुछ स्थिर करके कहा—"क्या आप मुझे अपना पूरा परिचय देंगे?"

कैलाश पहले सशंकित हो उठा, पर फिर सँभलकर गंभीरता-पूर्वक बोला—"कानपुर में मेरे यहाँ फ़रनीचर-सप्लाई का काम होता है। मेरे एक बड़े भाई हैं, वही सब काम देखते हैं। उनके दो बच्चे हैं। भाभी हैं, और मैं हूँ। मैं अभी तक कालेज में पढ़ता था। पर जब बी० ए० में फ़ेल हो गया, तो पढ़ना छोड़ बैठा।"

संध्या कुछ सोचते हुए मुसकराने लगी।

कैलाश ने कहा—"सच बतलाइयेगा, इस वक्त आप क्या सोच रही हैं?"

"पूछकर क्या कीजियेगा?"

"यों ही।"

"तब मैं उसे न बतलाऊँगी।"

"और मैं बिना जाने आपको सोने न दूँगा।"

"इतनी ज़बरदस्ती!"

"फिर करूँ क्या, लाचार जो हो गया हूँ।"

"ऐसी क्या बात है?"

"है।"

"आख़िर, मैं भी सुनूँ।"

"अपने दिल से पूछिये।"

घंटे-भर बाद।

"अभी आपने जिस बात के साथ एक शर्त पेश की थी, क्या आपको उसकी याद है?"

"है।"

"तो क्या आप उसको उसी तरह मुझे समझाने को तैयार हैं?"

"दिलोजान से।"

"तो फिर यह भी तयशुदा समझ लिया जाय कि आप लहोर में मेरे ही यहाँ चल रहे हैं।" कैलाश ने सिर हिलाकर संध्या की बात का समर्थन कर दिया। एकाएक उसे ऐसा जान पड़ा, जैसे वह सोते-सोते एक मधुर स्वप्न-सा देखकर अभी-अभी सजग हुआ है। बड़ी देर तक वह अपने भावी जीवन के सम्बन्ध में नाना प्रकार की कल्पनाएँ करता रहा। उस समय वह इतना प्रसन्न था कि न तो चुपचाप लेट सकता था, न स्थिर होकर बैठा रहना ही उसके लिये सम्भव था। वह कभी अपना अटैची खोलकर आइना देखता, कभी कोई उपन्यास उठा लेता। एक बार तो डब्बे की छत से लटकनेवाले काँटे ही वह गिन गया।—एक बार उसने अपने और संध्या के असबाब की भी संख्या निर्धारित कर ली।

[३]

रात अधिक बीत जाने के कारण कैलाश का सिर-दर्द करने लगा था। पर थोड़ी देर में उसकी आँखों में नींद का झोंका आ ही गया। ट्रेन लुधियाने के स्टेशन पर खड़ी हो रही थी। संध्या ने कैलाश के बदन को ज़रा-सा झकझोरकर कहा—"बाबू, बाबू, होशियारी के साथ रहना, मैं अभी आती हूँ। बड़ी प्यास लगी है, ज़रा शरबत पी आऊँ।"

कैलाश उठने का उपक्रम करके बोला—"शरबत मैं ले आऊँगा, आप बैठिये न।"

परन्तु तब तक संध्या डब्बे से उतरकर प्लेटफ़ार्म पर आ गई थी। वह बोली—"नहीं, आपको तकलीफ़ न दूँगी। मैं अभी हाल लौट आती हूँ।"

संध्या का उसे छूना, उसे हिलाना और फिर विहँसते हुए परी की भाँति चट से उठकर,एक चमक-दमक के साथ तितली की तरह फुदककर चलना, कैलाश के मानस में हिलोर-सी उठाने लगा। वह सोचने लगा—"यह नारी है कि उर्वशी—यह जगत है कि स्वप्न-लोक !"

कैलाश प्लेटफ़ार्म की खिड़की की ओर दृष्टि स्थिर किये बैठा रहा। धीरे-धीरे दस-बारह मिनट हो गये, पर संध्या नहीं लौटी। ट्रेन चलने को हुई, तो वह डब्बे से उतरकर इधर-उधर देखने लगा। लेकिन तब तक ट्रेन चल दी। विवश होकर और यह सोचकर कि स्वाधीन रमणी ठहरी। रिफ्रेशमेंट रूम में इतमीनान से बैठ गई होगी, वह फिर अपने डब्बे में आगया। कभी वह बैठ जाता,कभी लेट रहता। किसी तरह उसे चैन नहीं मिल रही थी।

ज्यों-त्यों करके अगला स्टेशन आ गया। ट्रेन खड़ी हुई ही थी कि एक टी० टी० आई० चट आ पहुँचे। सफ़ेदपोश लोगों पर सबसे पहले दृष्टि जाना यों भी स्वाभाविक है; फिर वह तो टी० टी० आई०ठहरे। पहला वार कैलाश पर ही हुआ। बोला—"टिकट दिखलाइये।"

कैलाश ने टिकट दिखला दिया।

तब टी० टी० आई० ने नीचे रखे हुए ट्रंक की ओर इशारा करते हुए पूछा—"यह सामान बुक्ड है कि नहीं? रसीद दिखलाइये।"

दोनों बेंचों के बीच में वह बड़ा सा ट्रंक रक्खा हुआ था। वह उसे उठाने और उसका वज़न जाँचने का उपक्रम करने लगा। ट्रंक वज़नी-था; बड़ी मुश्किल से उसका एक कोना उचका सका। तब हैरत में आकर वह बोला—"इसमें सोना है या लोहा! बड़ा वज़नी है। और हाँ, आपने बतलाया नहीं, इसे बुक कराया है या नहीं?"

कैलाश इसका क्या जवाब दे, यही तो वह सोच रहा था; पर फिर उसे यह तै करने में देर न लगी कि यह स्थान जवाब देने में देर करने का नहीं है। उसने कहा—"देवी जी यह सब जानती हैं। वे पिछले

स्टेशन पर शरबत पीने को उतरी थीं। तब तक ट्रेन चल दी। शायद किसी दूसरे कंपार्टमेंट में रह गई हैं। आती ही होंगी।"

"अच्छी बात है। उन्हें आ जाने दीजिये।" कहकर वह अन्य लोगों का टिकट देखने लगा।

काफ़ी देर हो गयी थी, परन्तु फिर भी संध्या नहीं आई थी।

टी० टी० आई० ने फिर पूछा—"क्यों साहब, आपकी देवी जी आई नहीं ?

कैलाश शर्मिन्दा हो उठा। फिर भी वह बोला—"हाँ साहब, नहीं आईं।"

"तो फिर इस सामान को यहीं उतरवाकर तुलवाना पड़ेगा। लेकिन आप यह तो बतलाइये, इसमें है क्या ?"

शंकाओं में डूबा हुआ कैलाश बोला—"यह मैं कैसे कह सकता हूँ! अन्दाज़ से कहिये कह दूँ, कपड़े होंगे या ज़ेवरात।"

"वे देवीजी आपके साथ ही हैं न ?"

"जी।"

"आप लोग एक ही जगह जा भी रहे हैं।"

"जी।"

"यह सामान इस वक्त किसके चार्ज में है ?

"मेरे चार्ज में।"

टी० टी० आई० उसी समय दो कुली बुलाकर उस ट्रंक को उतरवाने लगा। कैलाश तब तक चित्रलिखित-सा खड़ा रहा। अन्त में विवश होकर वह टी० टी० आई० के साथ चल दिया।

तुलने पर उस ट्रंक का वज़न दो मन के ऊपर निकला। कैलाश ने दस-दस रुपये के दो नोट निकाल कर उसे दे दिये। उधर दो-चार व्यक्ति इकट्ठे देखकर सी० आई० डी० के स्टेशन-इंचार्ज भी तशरीफ़ ले आये। आपाद-मस्तक कैलाश बाबू को देखकर बोले—"इसमें है क्या जनाब ?"

कैलाश ने उत्तर दिया—"मुझे नहीं मालूम।"

तब तो वह और भी सशंकित हो उठे। टी० टी० आई० ने कहा—"यह सब इनकी देवीजी को ही मालूम है। वह शरबत पीने की बात कहकर पिछले स्टेशन से इनके डिब्बे से चली गई हैं और तब से इनको उनका कुछ भी पता नहीं है।"

सी० आई० डी० इंचार्ज बोले—"मामला मशकूक मालूम होता है। लिहाज़ा ताला तोड़कर ट्रंक देखना पड़ेगा।"

ट्रेन अभी खड़ी थी। कैलाश अब घटना के इस रूप को सावधानी से समझ रहा था। सामान तुल जाने पर कुछ रुपये ही तो लग रहे हैं, अभी तक यही बात उनके सामने थी। सोचता था, इस झंझट से मुक्त होकर फिर वह संध्या को खोजने की चेष्टा करेगा। सम्भव है, वह अपने डब्बे के इधर-उधर मुझे खोज रही हो।

परन्तु ताला तोड़कर जब वह ट्रङ्क खोला गया, तो उससे इतनी बदबू फूट पड़ी कि सभी उपस्थित व्यक्तियों के जेबों में पड़े हुए रूमाल उनके नाक और मुँह पर जा पहुँचे। तपाक से सी० आई० डी० इंचार्ज ने कहा—"अरे! यह तो किसी शख्स की लाश है!"

कुछ लोग दो-दो क़दम पीछे हट गये। परन्तु सी० आई० डी० इंचार्ज ने लपककर बग़ल से जाकर उनका हाथ पकड़ लिया और कहा—"अब आप अपने को हिरासत में समझें।"

[४]

अपने डब्बे से उतरकर तुरन्त संध्या ने शरबत न पिया हो, यह बात नहीं है। उसने शरबत पिया, और ख़ूब संतोष के साथ पिया। परंतु उस ट्रेन में नहीं, स्टेशन से लगे हुए प्रीमियर होटल में भी नहीं, वरन् सहारनपुर जानेवाली एक दूसरी ट्रेन के सेकंडक्लास के डब्बे में। यह तो निश्चित ही था कि किसी-न-किसी प्रकार उस सारे सामान को छोड़ पाते ही उसे नौ-दो-ग्यारह हो जाना है। परन्तु एक व्यक्ति को प्रेमी

बनाकर फिर उसे फाँस देने का मंशा उसका क़तई न था। कुछ बातचीत ही ऐसे ढंग से चल पड़ी कि घनिष्ठता बढ़ती ही गई, और एक नया व्यक्ति, जिसने अभी दुनियाँ अच्छी तरह से देख भी न पाई थी, निकटतम पहुँचकर उसके हृदय में स्थान पाता ही चला गया। इसके लिये वह क्या करे! यह ठीक है कि उसको एक घटना की चिन्ता से इस समय मुक्ति मिल गई थी। परन्तु इस मुक्ति के साथ-ही-साथ वह जो एक प्रेमी की जान को संकट में डाल आई है, इसका दुःख और पछतावा भी उसके हृदय में कम न था।

सहारनपुर में संध्या की बड़ी बहिन थी। वह रेलवे के एक इंजीनियर की पत्नी के रूप में वहाँ रहती थी। संध्या ने सोच लिया था कि पहले वह वहीं अपने कुछ दिन व्यतीत करेगी। क्या करेगी, क्या न करेगी, इसका निश्चय करने की अभी ऐसी जल्दी ही क्या है! झुँझला-झुँझलाकर वह अपने आप से ही उलझ पड़ती थी। इस झुँझलाहट का एक विशेष कारण यह भी था कि धीरे-धीरे सहारनपुर निकट आ रहा था।

पिछले दो दिनों में जो घटना घट चुकी थी, उसके कारण उसका मन अशांत था। उस अस्थिर और चिंताशील मन को बलात् स्थिर और जागरूक रखने के लिए भीतर-बाहर से अपने को कैसा कसकर रखना है;यह सोचकर वह कभी-कभी एकाएक चकित-स्तंभित हो उठती थी। उसके जीवन में ऐसा संयोग ही काहे को कभी आया था! इन दो दिनों में अपने को वह बहुत दुर्बल पा रही थी। और इसलिये जब उसकी बेचैनी कुछ बढ़ने लगती,तभी वह थोड़ी-सी मदिरा पी लेती थी। कैलाश से लगातार वार्तालाप होते रहने में उसे बीच में एक बार भी मदिरा पीने का अवसर नहीं मिला था। कुछ तो इस कारण और कुछ दो दिनों की चिंता और खाने-पीने तथा सोने के असंयम के कारण यों भी उसके समस्त शरीर में पीड़ा हो रही थी। और सिर तो बहुत ही अधिक दर्द कर रहा था। तिस पर पिछली घटनाओं के नाना प्रकार के चित्र बारम्बार उसकी कल्पना-दृष्टि के सामने घूमने लगते थे!

इस समय उसके साथ केवल एक रेशमी चादर थी। उसी को अपने ऊप डाल कर वह बर्थ पर लेट रही। बड़ी देर तक वह कुछ-न-कुछ सोचती रही। परन्तु अन्त में उसे नींद आ ही गई।

संध्या वेश्या है। परन्तु वैसी पेशेवर वेश्या नहीं, जिसके दर्जनों चाहनेवाले हों। वह स्थिर रूप से कुँवर नृपेन्द्रसिंह की रखैल थी। आगरे में उन्होंने उसकी कोठी बनवा दी थी। जीवन-निर्वाह के लिये उन्होंने अपनी जायदाद का एक चौथाई भाग उसके नाम बय कर दिया था। उसी की आय से संध्या का जीवन शान के साथ बीत हो रहा था।

कुँवर नृपेन्द्रसिंह के एक पुत्र था। जिस समय उन्होंने वह बयनामा लिखा था, उस समय वह नाबालिग़ था। इधर दो बर्षों से मुक़दमा चल रहा था। उनके पुत्र का दावा था कि मेरी जायदाद को बय करने का मेरे पिताजी को कोई अधिकार नहीं है। उन्होंने बिना सोचे-समझे मेरी वह जायदाद संध्या के क्षणिक प्रभाव में आकर उसके नाम बय कर दी है। उन्हीं दिनों यह अफ़वाह भी बहुत सरगरमी के साथ फैल रही थी कि कुँवर साहब अदालत में यह स्वीकार करनेवाले हैं कि उस बयनामे पर उन्होंने नशे की हालत में दस्तख़त किये हैं।

इसके बाद अभी परसों कुँवर साहब संध्या के यहाँ आये थे। रात्रि-भर वे उसके यहाँ ठहरे भी थे। पर सबेरा होने पर वे मृत पाये गये। वे आख़िर मर कैसे गये, इसका कुछ पता नहीं चला। संध्या इस घटना से इतनी घबरा गई कि उसको जान पड़ा, मानो कुँवर साहब की मृत्यु की यह घटना उसके जीवन को भी साथ में ले जाने के लिये ही उसकी कोठी में हुई है। निदान, उसके शव को अपने यहाँ से ग़ायब करना ही उसे एकमात्र अवलम्ब देख पड़ा। आज संध्या उसी शव को उस ट्रङ्क में छोड़ आई है।

सोते-सोते एकाएक संध्या उठ बैठी। प्लेमफ़ार्म की ओर जो उसने देखा, तो सहारनपुर स्टेशन था और ट्रेन खड़ी थी। झट से वह ट्रेन

से उतरकर एक ताँगा करके अपनी बहन के यहाँ चल पड़ी। इस समय उसका मुख बहुत उतरा हुआ था, आँखें रक्तवर्ण थीं।

यह सब कुछ था, किन्तु अपने भीतर वह एक साहस का अनुभव कर रही थी। वह सोच रही थी कि मैंने कोई गुनाह नहीं किया। मैं अपनी रक्षा करना जानती हूँ। मेरा रास्ता ग़लत नहीं हो सकता। मुझमें इतनी अक़्ल है कि मैं अपना भला-बुरा समझ सकूँ। संसार की कोई ताक़त मुझे गुनहगार नहीं साबित कर सकती। मैंने सिर्फ़ अपने को एक जाल से बचाने की कोशिश की है। और मैं इसमें कोई बुराई नहीं देखती। मैं अख़ीर-अख़ीर तक कामयाब होकर रहूँगी। कोई मेरा पता पा नहीं सकता, कोई मुझे छू नहीं सकता। कोई यह नहीं कह सकता कि मैं गुनहगार हूँ।"

उसका हृदय धक-धक कर रहा था, लेकिन उसके क़दम बिलकुल ठीक उठ रहे थे। वह अपने सामने बहुत सावधानी से देख रही थी, किन्तु इधर-उधर देखकर चलने में उसे अपने भीतर एक दुर्बलता का सन्देह होने लगता था। वह मन-ही-मन सोचती थी कि मैं भीरु नहीं हूँ, मैं कठोर-से-कठोर स्थिति का सामना कर सकती हूँ।

[५]

कुँवर नृपेन्द्रसिंह के शव की शिनाख़्त बड़ी मुश्किल से हो सकी। कारण, कैलाश पकड़ा गया लुधियाना में और कुँवर साहब के सम्बन्धियों को इस बात का क्या पता था कि वे अब इस संसार में नहीं हैं! और शव भी उनका कहाँ-से-कहाँ जा पहुँचा है!!

ऐसी अवस्था में उनकी ओर से इतनी जल्दी कोई कार्रवाई कैसे हो सकती थी! कैलाश ने जब बतलाया कि वह रमणी आगरे में अपना निवास-स्थान बतलाती थी, तब आगरे की पुलिस द्वारा यह जाना जा सका कि वह शव कुँवर साहब का है। कैलाश ने अपने बयान में यह भी कहा कि उस रमणी के साथ उस रात से पहले उसकी क़तई जान-पहचान

नहीं थी। अपने व्यवसाय के काम से ही वह लाहौर जा रहा था। रास्ते में उसके साथ उसका प्रेम हो गया। उसे यह भी नहीं मालूम हो सका कि वह वेश्या है। बातचीत में जब यह तै हो गया कि वह लाहौर में उसे अपने घर ठहरायेगी, तब उसने यह भी सोच लिया था कि सम्भव है, भविष्य में वह उसे पति के रूप में ही वरण करना स्वीकार कर ले। उसे इस बात का पूरा विश्वास था कि वह उसे धोका नहीं दे रही है, और अगले स्टेशन पर वह अवश्य आ मिलेगी।

आगरा सेशन-जज की अदालत में इस सनसनीदार मामले की पैरवी देखने के लिए दर्शकों की बड़ी भीड़ रहती थी। संध्या के नाम वारंट था। उसकी कोठी ख़ाली पड़ी थी और उस पर पुलिस का पहरा था। कुँवर साहब के पुत्र राजेन्द्रसिंह के यहाँ उनके सम्बन्धियों के आने-जाने का ताँता बँधा हुआ था। उनकी ओर से पुलिस को हर प्रकार की मदद देने का पूरा प्रबन्ध था। क्या युक्त-प्रान्त और क्या पंजाब, दोनो प्रान्तों में संध्या के फोटोग्राफ़ छपवाकर भेजे गये थे। कैलाश की ओर से अलग कानपुर के नामी वकील पैरवी कर रहे थे। पोस्ट-मारटम से यह सिद्ध हो चुका था कि कुंवरसाहब को विष दिया गया था। अब सवाल यह था कि विष खिलाया किसके द्वारा गया? पुलिस की ओर से कहा गया था कि मुजरिम का ताल्लुक़ तवायफ़ से था, यह वह ख़ुद तसलीम करता है। फ़र्क़ महज़ इतना है कि उसका कहना है कि ताल्लुक़ उसी रात को हुआ, उसके पहले कभी नहीं हुआ। मगर अदालत के सामने इस बात का कोई सबूत नहीं कि उसका उसके साथ कोई ताल्लुक़ पहले से नहीं था। ज़ाहिर है कि तवायफ़ से मुहब्बत होने की वजह से कुंवर साहब के साथ मुजरिम की दुश्मनी चल रही थी, और इसीलिए उसने तवायफ़ के साथ मिलकर उन्हें ज़हर दिलवाया है।...उधर कैलाश की ओर से, उसके गवाहों द्वारा यह साबित हो चुका था कि वह पिछले कई वर्षों से कहीं बाहर नहीं गया। बराबर वह कानपुर में ही रहा है। ऐसी हालत में आगरे की एक

तवायफ़ के साथ उसका ताल्लुक़ होना कभी मुमकिन नहीं।...ठाकुर राजेन्द्रसिंह का निजी विश्वास भी यही था कि जब इस तवायफ़ के साथ कैलाश का ताल्लुक़ होना साबित है, तब मुमकिन है. उसीने उन्हें धोका देकर शरबत के साथ ज़हर दिलवा दिया हो। उधर ठाकुर साहब के परिवार पर, इस दुर्घटना के कारण, हाकिम की दिली हमदर्दी होना स्वाभाविक था। ऐसी दशा में क़रीब-क़रीब यह निश्चय था कि कैलाश बाबू को आजीवन कारागार-वास की सज़ा ज़रूर हो जायगी।

[६]

फ़ैसले का दिन था। अन्य तारीख़ों की अपेक्षा आज अदालत में भीड़ अधिक थी। सेशनजज महोदय ने तजवीज़ में फ़ोलियो फुल्सकेप-साइज़ के आठ पेजों की बहस के बाद फ़ैसला दिया था। फ़ैसला सुनाने के लिए अभी मिसिल को उन्होंने उठाया ही था कि एकाएक बाहर से, हलचल के साथ, एक रमणी का आगमन हुआ। उपस्थित जन-समुदाय ने उसे रास्ता दे दिया। वह एकदम हाकिम के सामने आकर कहने लगी—"पेश्तर इसके कि कार्रवाई आगे बढ़े, पहले मेरा बयान ले लिया जाय। मेरा नाम संध्या है।"

बात-की-बात में अदालत में सन्नाटा छा गया। लोग एक दूसरे की ओर देखने लगे। कैलाश का उदासीन मुख प्रफुल्लित हो उठा।

अब पुलिस-कांस्टेबिल्स उसके पीछे हो गये थे। न्यायाधीश ने इतमीनान के साथ कहा—"बहुत देर के बाद आप तशरीफ़ लाईं!"

संध्या के मुँह से निकल गया—"क़िस्मत की बदनसीबी।"

वास्तव में इस समय संध्या बहुत गंभीर थी। अपनी वेश-भूषा से वह इस समय एक वेश्या नहीं, क्षत्राणी-सी जान पड़ती थी। उसने कहा—"मैं अगर ऐसा जानती कि अदालतमें एक दिन मुझे जाना ही पड़ेगा, तो इस मामले का न तो यह नतीजा होता, न पुलिस और अदालत को इसे समझने में इस क़दर तवालत और ग़लतफ़हमी ही होती। लेकिन

दुनियाँ में ऐसी कोई ताक़त नहीं, जो होनहार को रोक सके। मैं किसी क़िस्म का लेक्चर देने की ग़रज़ से यहाँ नहीं आई हूँ। मेरा मंशा सिर्फ़ यही है कि अदालत इस मामले की तह तक आप पहुँच जाय और सच्ची बात उससे छिपी न रहे।

"हाँ, मैं होनहार की बात कह रही थी। कौन जानता था कि जो कुँवर साहब अपनी मामूली बातचीत में कह दिया करते थे कि मैं तुम पर जान देने को तैयार हूँ, एक दिन ऐसा भी आयेगा कि वे सचमुच मुझ पर जान ही न्योछावर कर देंगे। मैं यह नहीं कहती कि मैं उनसे प्रेम करती थी। एक तवायफ़, या वह औरत जो आज तक कम-से-कम तवायफ़ के नाम से मशहूर है—प्रेम कर ही क्या सकती है! पर हाँ, उनकी मृत्यु ने अलबत्ता मुझे प्रेम करना सिखला दिया।

"शनिवार ? —हाँ, शनिवार का ही दिन था। रात को क़रीब ग्यारह बजे कुंवर साहब मेरी कोठी में आये। इधर तक़रीबन छः महीने से, जब से मेरी जायदाद के मुतल्लिक मुक़दमा चल रहा था, वे मेरे यहाँ नहीं आये थे। पर उस दिन जब वह अपनी इच्छा से मेरे यहाँ आये, तो मुझे बड़ा अचरज हुआ। मैंने बल्कि कहा भी था कि मुझे आपसे ऐसी उम्मीद नहीं थी। इस पर वह बहुत शर्मिन्दा हुए। इसका जवाब उन्होंने सिर्फ़ एक ठंढी सांस लेकर दिया; कुछ कहा नहीं। उससे पहले मैं एक गाना गा रही थी। उन्होंने कहा—"हां, अपना काम जारी रक्खो, बंद मत करो। मैं भी सुनूंगा।"

"कुंवर साहब बड़ी देर तक गाना सुनते रहे। अंत में जब ज़्यादा रात बीत गई और लोग चले-चलाये गये, तो उन्होंने कहा—"मैं आज यहीं सोऊँगा।" मैंने उनके सोने का इंतज़ाम कर दिया। वे कुछ देर तक तो जागते रहे, मैं भी उनके पास बैठी बातें करती रही। अंत में उन्होंने कहा—"अब तुम भी सोओ।" मैं अलग एक दूसरे कमरे में सोने चली गई। सबेरा हुआ, तो यह जानकर मैं हैरत में आ गई कि

कुंवर साहब अभी सो ही रहे हैं। वे चाहे जब, चाहे जितनी देर से सोये हों; पर उठते सूरज निकलने के पहले ही थे। मैं उनके निकट गई, तो उनको देखकर दंग रह गई। उनका मुंह खुला हुआ था; और उस पर मक्खियाँ भिनक रही थीं। साँस का कहीं पता न था। बदन ठण्डा पड़ गया था और नब्ज़ भी एकदम बंद थी। सभी कुछ समाप्त हो चुका था। देखना दूर रहा; अपनी ज़िन्दगी में ऐसी हैरत-अंगेज़ मौत मैंने सुनी तक न थी। मेरा दिल दहल गया। उन दिनों मेरी जायदाद के बारे में उनके लड़के राजेंद्रसिंह से मुक़दमा चल रहा था। अपनी जायदाद का चौथाई हिस्सा कुंवर साहब मेरे नाम से बय कर चुके थे। उसी पर राजेंद्रबाबू की उज़रदारी थी। उसी अय्याम में यह भी अफ़वाह उड़ी थी कि कुंवर साहब अदालत के रूबरू कहेंगे कि बयनामे पर दस्तख़त उन्होंने नशे की हालत में किये है। मैंने सोचा—"मेरे खिलाफ़ उनको ज़हर देकर मार डालने का केस पूरी तरह से तैयार हो गया। अब मेरा इससे बचना मुश्किल है। इसलिये उनकी लाश को ग़ायब कर देने में ही मैंने अपनी कुशल समझी। कैलाश बाबू इस मामले में बिलकुल बेक़सूर हैं। अगर वह इसमें बुरी तरह से फँसे न होते, तो मैं अदालत में हाज़िर होती, यह मैं नहीं कह सकती। लेकिन प्रेम की दुनियाँ ही दूसरी होती है। प्रेम की ही वजह से कुंवर साहब ने अपनी जान दे दी, और मुझ पर प्रेम दिखलाने की वजह से ही कैलाश बाबू इस मामले में फँस गये। उन्होंने मेरा पूरा विश्वास किया। यहाँ तक कि कुछ ही घंटों की बातचीत में मुझे एक सभ्य रमणी समझकर उन्होंने मेरा प्रेमी बनना स्वीकार किया। लेकिन अब तक मेरी दुनियाँ दूसरे क़िस्म की रही है। मैंने कितने लोगों को धोका देकर रक़में उड़ाईं, कितने लोगों के साथ विश्वासघात किया। उफ़! मैं उनकी बाबत क्या कहूँ!! मैंने जिस वक़्त ट्रेन पर कैलाश बाबू को छोड़ा था, उस वक़्त मैं यह नहीं जानती थी कि अपने इस काम से अपनी नज़रों में मैं ख़ुद ही गिर जाऊँगी। ज्यों-ज्यों मैं इस मामले पर

ग़ौर करती, त्यों-त्यों मुझे अपनी ज़िन्दगी से नफ़रत होती जाती थी। बार-बार यही सवाल मेरे सामने पेश हो जाता था कि क्या मेरा जन्म इसीलिये हुआ है कि मैं अपने प्रेमियों की जानें लूं? आख़िरकार मेरी समझ में आ गया कि इस मामले की सचाई अदालत से ज़ाहिर किये बिना मैं चैनसे बैठ नहीं सकती। और तब मुझे आज यहाँ हाज़िर होकर अदालत के रूबरू अपनी यह दुःखकथा सुनाने के लिये मजबूर होना पड़ा।"

अदालत में एक बार फिर हलचल मच गयी। लोग कभी संध्या की ओर देखते, कभी हाकिम की ओर। कैलाश का विचित्र हाल था। संध्या की धोकेबाज़ी पर उसने उसके सम्बन्ध में जो नाना प्रकार की बातें सोच डाली थीं, इस समय उन पर उसे बड़ा पश्चात्ताप हो रहा था। वह यह कभी सोच ही न सकता था कि संध्या इतनी ऊँचे उठ सकती है।

अंत में संध्या ने कहा—"अब सवाल यह है कि आख़िर कुंवरसाहब की मौत हुई कैसे? पहले मैंने इस मामले पर ग़ौर नहीं किया था। मैं सोचती थी कि मुमकिन है, दिल की हरकत बंद हो जाने से ही इनकी मौत हुई हो। पर जब कि पोस्ट-मारटम से ज़हर का खाया जाना साबित हो ही चुका है, मुझे इस बात पर पक्का विश्वास हो गया है कि ज़रूर उन्होंने शर्म के मारे ख़ुद ही ज़हर खा लिया था। मैं यह जानती हूँ कि अदालत एक तवायफ़ की हरएक बात का यक़ीन नहीं किया करती, लेकिन क्या उसके सामने मुझे यह कहना ही पड़ेगा कि जिस तरह से सभी आदमी ईश्वर के खिलौने हैं, उसकी उसकी नज़रों में जैसे पापी और पुजारी, इंसाफ़ के मामले में एक-सी हैसियत रखते हैं, उसी तरह एक तवायफ़ की बातों पर ग़ौर करना भी अदालत का फ़र्ज़ है।"

सेशनजज महोदय ने कहा—"बस, इस वक़्त आपका इतना बयान अदालत के लिये काफ़ी है। अब मैं चाहता हूँ कि आप इस वक्त अपनी दस हज़ार की निजी ज़मानत दे दें, और इस केस की बाबत

अपने बयान की सचाई साबित करने तथा अन्य ज़रूरी बातें खोज निकालने में पुलिस की मदद करें। अब अगली पेशी सात दिन के बाद होगी। अगर कैलाश चाहें, तो अब वे भी दो हज़ार की जमानत पर छोड़े जा सकते हैं।"

दोनों ओर से ज़मानतें दी गईं और कचहरी उठ गई।

[७]

अगली पेशी का दिन था। आज अदालत में और दिनों से भी ज़्यादा भीड़ थी। कैलाश आज अपने असली रूप में थे—क्लीनशेव्ड, रेशमी कुरता, मुंह में पान भरे हुये, बंगाली-कट के कुरते में छपहलू सोने के बटन, केश सुन्दर ढंग से सँवारे हुए।

संध्या एक कामदार रेशमी साड़ी पहनकर आई थी। पैरों में ऊँची एँड़ी के जूतों की जगह चप्पल थे। ललाट पर श्याम रोरी थी। साड़ी से सिर इतना ढका हुआ था कि मस्तक के कुछ ऊपर से ही किनारी प्रारम्भ हो जाती थी। हाँ, उसकी आँखें रक्तवर्ण थीं। मुंह बहुत उतरा हुआ था। ऐसा जान पड़ता था, जैसे वह कुछ बीमार है।

सेशनजज महोदय ने ज्यों ही कुर्सी ग्रहण की, त्योंही प्रारम्भिक कार्रवाई के बाद कोर्ट-इंस्पेक्टर ने कुंवर साहब का एक कोट अदालत के सामने पेश किया। उन्होंने बतलाया—"यह कोट मुझे संध्या के यहाँ मिला है। मैंने जो इसकी जेबें देखीं, तो इसमें कुंवर साहब की एक चिट्ठी पायी गयी। इस चिट्ठी की तारीख़ मुजरिम की गिरफ्तारी से एक दिन पेश्तर की है। यह ज़बान हिन्दी में लिखी हुई है।" यह कहकर उन्होंने वह चिट्ठी जज महोदय के सामने रख दी।

जज महोदय ने दो मिनट तक उसे देखा, फिर पेशकार को पढ़ने का आदेश किया। पेशकार ने उसे इस तरह पढ़कर सुनाया—"अपनी जायदाद का चौथाई भाग मैंने अपनी तबीयत से संध्या के नाम बय कर दिया था। मैंने ऐसा क्यों किया था, इसका मेरे पास कोई उत्तर नहीं

है। कोई किसी को क्यों प्यार करता है, क्या इसका भी वह कोई कारण बतायेगा? यह तो यबीयत की बात है। मैं संध्या को कितना चाहता था, कह नहीं सकता। लेकिन चूंकि वह एक वेश्या है, इसलिये दुनियाँ यह सुनना नहीं चाहती। जो चीज़ मैं उसे दे चुका, चाहे जिस प्रकार मैंने उसे दिया हो, दुनियाँ चाहती है, मैं उससे मुकर जाऊँ--मैं यह कह दूँ कि मैंने उसे नहीं दिया। मुझे दुनियाँ की यह बात पसंद नहीं है। जान पड़ता है, मैं इस दुनियाँ में रहने लायक़ नहीं हूँ। मैं तो ऐसे समाज का स्वप्न देखता हूँ, जिसमें वेश्या रहने के कारण ही कोई स्त्री समाज के तिरस्कार की पात्र न होगी। मैं तो प्रत्येक दशा में मनुष्य के आमूल सुधार का पक्षपाती हूँ। मैं जानता हूँ, ऐसी भी ललनाएँ हमारे समाज में हैं, जिन्हें जीवन-भर समाज का कोप और अपमान सहन पड़ता है। परन्तु वास्तव में जो सहस्रों सती-साध्वी नारियों की अपेक्षा अधिक पवित्र और वीर हैं। अतएव मैं ऐसे समाज को नहीं मानता। मैं ऐसी दुनियाँ से घृणा करता हूँ। और इसीलिये आज मैं उससे कूच कर रहा हूँ। मनुष्य की ज़िन्दगी का कुछ ठीक नहीं है। यों भी मुझे एक दिन मरना ही है। मेरी वह ज़िन्दगी मेरे लिये मौत से बदतर होती। जब चार दिन के बाद दिल का टूटना ही निश्चित है, तो यही अच्छा है कि एक उसूल के लिये वह आज ही टूट जाय।"

चिट्ठी अभी इतनी ही पढ़ी जा सकी थी कि एकाएक अदालत-भरमें ज़ोर से हलचल मच गई। संध्या, जो अभी खड़ी-खड़ी इस चिट्ठी को सुन रही थी, एकाएक फ़र्श पर जा गिरी। कैलाश तथा उसके साथियों ने उसे सँभालने की पूरी चेष्टा की, परन्तु सब व्यर्थ! जब तक डाक्टर आये-आये तब तक उसका शरीर निष्प्रभ-निश्चेष्ट हो गया। उसके ललाट के बीचो-बीच लगी हुई श्याम रोरी हँसने लगी।

जज महोदय अपने भीतर का उद्वेग सँभाल न सके। वह प्राइवेट रूम में चले गये। चलने से पहले उन्होंने कह दिया—"कैलाशचन्द्र बरी किये गये। उन्हें छोड़ दिया जाय।"

शैतान

यह आदमी, जिसके साथ मैं पिछले आठ दिन से हूँ, है तो मेरा मित्र, लेकिन इतना विचित्र है कि मैं इससे हमेशा बचकर चलता हूँ। जब कभी दूर से इसकी आवाज़ सुनता हूँ, तो बदन-भरमें जैसे बिजली दौड़ जाती है। सोचने लगता हूँ कि यह अवश्य एक-न-एक टण्टा लेकर चला होगा।—अवश्य इसने किसी-न-किसी दुर्घटना को जन्म दिया होगा। असम्भव है कि दो-चार घण्टे यह मेरे बरबाद न करे। कमबख़्त कई वर्ष बाद तो इस नगर में आया है। यद्यपि मनाता मैं यही रहता हूँ कि यह अपनी इस काया को मेरी ओर लाने का कष्ट न दे। लेकिन ख़ैर, जब यह आ ही गया, तो इससे मिलना भी आवश्यक हो गया। तभी तो ज्यों ही यह मेरे घर आया, त्यों ही इसके इच्छानुसार मैं साथ हो लिया।

अपने-अपने नाते हर आदमी के अलग-अलग होते हैं। हमारा इसका नाता इतना निकटवर्ती है कि मैं इसे खाने के लिए कभी पूछता नहीं। हाँ, पानी के लिए अलबत्ता पूछ लेता हूँ; क्योंकि झट से उठकर, प्रेम के साथ, शीशे के गिलास में बहते नल का पानी पिला देने में अपना क्या जाता है! लेकिन क्या बतलाऊँ, इसके आगे मेरी एक नहीं चलने

पाती। आते-ही-आते यह मेरे नौकर के आगे चार पैसे फेंक देता है। कहता है—"ज़री चार पैसे की ताज़ी कचौड़ी तो ले लेना। और देखो, साग ज़री ढेर-सा रखा लेना। बात यह है कि मैं ज़री तबियत से खाना पसन्द करता हूँ।"

देखा आपने ? आये हैं हज़रत मुझसे मिलने और जल-पान के लिए पैसे ख़ुद देने चले हैं! बतलाइये, किसे ताव न आ जायगा ? ज़्यादा पैसे आजकल मेरे पास अगर नहीं रहते, तो इसका यह मतलब तो है नहीं कि मैं आये-गये का स्वागत-सत्कार भी नहीं कर सकता हूँ। और ज़रा आप इसकी बात पर तो ध्यान दीजिये; साग आपको ज़्यादा इसलिए चाहिये कि आप ज़री तबियत से खाना पसन्द करते हैं! यानी जो लोग पाव-भर कचौड़ी के साथ ढाई पाव साग नहीं खाते, वे अपनी तबियत रास्ते में किसी के यहाँ गिरवी रख आया करते हैं!

ख़ैर साहब, इसकी हरामज़दगी से आपका कोई मतलब नहीं। यह जैसा कुछ है—है। और ज़ाहिर है कि मित्र भी—चारों ओर से देखें तो—यह मेरा हो ही जाता है। इसलिए इसके साथ का नफ़ा-नुक़सान भी मैं ही भुगत लूँगा। आपको इस फेरमें क्यों डालूँ! नहीं साहब, ऐसा हरगिज़-हरगिज़ हो नहीं सकता। आप इतमीनान रखिये; मैं कहानी की ही बात उठा रहा हूँ।

हाँ, तो उस दिन बादल अलबत्ता आसमान पर छाये रहे, लेकिन पानी इतना ही बरसा कि एक अच्छा ख़ासा छिड़काव जलती ज़मीन पर हो गया और अन्दर से भाप-सी निकलने लगी। यानी हवा बन्द रहने से एक तो यों ही ऊमस कम थी, दूसरे अब उसपर नुक़्ता लग गया। मतलब यह कि मज़ा आकर रह गया। और जनाब ऐसे वक्त, आप जानते हैं इस शैतानके साथ मैं कहाँ था ?—चौक के एक होटल में! जी हाँ, घर-बार रहते हुए भी आपने मुझसे फ़रमाया कि चलो, आज की रात मेरे साथ काटो। मैंने भी सोचा कि इसको अपने घर ठहराने का मतलब होता है...ख़ैर। इससे तो यही अच्छा है कि अपनी इस रात का ख़ून

अब इसके साथ ही कर डालो। किसी तरह जान तो छूटे। इसलिए लाचार होकर मुझे इसकी बात माननी ही पड़ी। और मेरा ख़याल है कि मेरी जगह आप होते, तो आप भी ऐसा ही करना अधिक पसन्द करते। कम-से-कम मेरी तत्परबुद्धि की प्रशंसा तो अवश्य करते। जो हो, मैं इसके साथ···होटल में जा पहुँचा।

कमरा नम्बर १३। ऊपर दूसरी मञ्जिलपर। दरवाज़ों पर हरी बार्निश, आगे छोटा-सा सहन। चौखट के ऊपर टीन का शेड। अन्दर चारपाई, ड्रेसिंग टेबिल और दो कुर्सियाँ। फ़र्शपर मैटिंग और ऊपर बिजली का हरा बल्ब।

शाम हो रही थी। ज्यों ही मैं अन्दर जाकर कोट उतारने लगा, मेरी दृष्टि बाहर सहन की ओर जा पड़ी। देखा, जहाँ तक रूप और यौवन का सम्बन्ध है, चीज़ बुरी नहीं है। कम-से-कम इस विचार से कि वह ठहरी नम्बर १२ या १४ के कमरे में हो। इसके सिवा जब मैं इस शैतान के साथ आया हूँ, तब सम्भव-असम्भव का विचार त्यागकर ही मुझे प्रत्येक सम्भावना पर दृष्टि डालनी पड़ेगी।

चारपाई उस कमरे में एकही थी, इसलिए तुरन्त दूसरी मँगाने के लिए मैंने उससे कह दिया। वह बोला—"अभी तो आये हो, बैठो ज़री इतमीनान से। शरबत अभी मँगवाता हूँ। और सिगरेट का पैकेट यह रहा। मैच-बाक्स तो तुम्हारे पास होगा ही। न भी हो, तो वह ताक़ में है।" और यह कहते-कहते लाइट उसने आन कर दी। साथ ही मैच-बाक्स भी मेरे पास फेंक दिया।

मैं अब इस आदमी से थोड़ा-सा डरने भी लगा हूँ। इसलिए नहीं कि यह मुझे खा जायगा। इसलिए भी नहीं कि मुझे जान-बूझकर कहीं असम्मानित कर बैठेगा। वरन् इसलिए कि उसका साथ-मात्र भी ख़तरे से कम ख़ाली नहीं है। अपना स्वभाव ठहरा शान्ति, शील और सौजन्य का प्रेमी; और यह जैसा कुछ तूफ़ानी है, आप देख ही रहे हैं। इसीलिए मैं इससे अपनी ओर से बातें बहुत कम करता हूँ। क्योंकि इस

प्रकार एक तो मैं सावधान रहने का अवसर अपेक्षाकृत अधिक पा जाता हूँ, दूसरे हरएक बातको वह स्वतः ही इतने विस्तार से बतलाता है कि मुझे उसका यथार्थ मर्म सहज ही ज्ञात हो जाता है। निदान, मैंने कुछ पूछना या कहना उचित नहीं समझा। खाने-पीने और अपने इष्ट-मित्रों की नाना बातें करते-कराते जब रात के दस बजे, तो उसने कहा—"अच्छा, अब हम सोयेंगे। तुम्हारी इच्छा हो तो कुछ पढ़ो। कहो तो कोई जासूसी उपन्यास दे दूँ।"

मैंने सोचा—"रात इतनी बीत गयी है। सबेरे ही घर जाकर मुझे अपना कार्य सँभालना है। कार्य से पहले बीबी को कैफ़ियत देनी है और समझाना है कि ख़र्च के नाम-पर—जी हाँ—एक पाई भी अपनी नहीं गयी है और जमा के नामपर वो-वो आला ख़यालात ले आया हूँ कि दुनिया-भर में अब मेरे ही नाम का सिक्का चलेगा और सबसे पहले जिस हुस्न की परी का जीवन-चरित्र पत्रों में सचित्र छापा जायगा, वह एकमात्र तुम होगी—सिर्फ़ तुम, यानी 'नीलूफ़र'।

अतएव मैंने कह दिया—"मैं भी अब सोऊंगा। जब तबियत हो, बत्ती गुल कर देना।"

जान पड़ता है, उसे मेरी अपेक्षा नींद अधिक थी। तभी उसने तुरन्त लाइट आफ़ करदी।

मैंने सो जानेकी बात तो कह दी, किन्तु स्वयं मुझे देर तक नींद नहीं आयी। तरह-तरह की बातें मेरे मस्तिष्क में चक्कर काटती रहीं। अन्त में एक बार उसने पूछा—"प्यास तो नहीं लगी है?"

उस समय मैं कुछ ऊंघने लगा था। एकाएक कुछ ऐसे ढङ्ग से चौंककर मैंने जवाब दिया—"एँ!"—कि उसने कहा—"जान पड़ता है नींद आ गयी तुमको। पर मुझे तो अभी तक नहीं आयी। मैं यह पूछ रहा था कि पानी तो नहीं पियोगे?"

मुझे ऐसा जान पड़ा कि वह गिलास में सुराही से पानी उँडेल रहा है।

मैंने कहा—"नहीं, मुझे प्यास नहीं है।"

और बस, इतना कहकर मैं सो गया। मैं नहीं जानता कि इसके बाद वह कब सोया। मुझे यह भी पता नहीं कि मैं कितनी देर सो पाया होऊँगा कि एकाएक कुछ शोर-गुल सुनकर मेरी नींद उचट गयी और मैं हड़बड़ाकर उठ बैठा। उस समय मेरे कानों में जो शब्द आये, उनसे मुझे पता चला कि पास ही कहीं दो-तीन व्यक्ति इकट्ठे हैं। खींचातानी-सी कुछ हो रही है। जैसे कोई किसी को धक्का दे रहा हो। क्योंकि कई तरह के क़दम पड़ते और घिसलते थे। मैंने लाइट जो आन की और घड़ी देखी, तो पता चला कि तीन बजे हैं। और मेरी दृष्टि उसकी चारपाई पर जो गयी, तो देखता क्या हूँ कि वह ख़ाली पड़ी है। द्वार की ओर देखा, तो वह भी खुला पड़ा था। हाँ, चिक अलबत्ता पड़ी हुई थी। मुझे सावधान होते और क़मीज़ पहनते-पहनते डेढ़-दो मिनट लग गये। इस बीच मैंने शब्दों के द्वारा वस्तुस्थिति का इतना परिचय और प्राप्त कर लिया कि पड़ोस के रूम के किवाड़ बन्द किये गये हैं और उनमें भीतर की सिटखनी भी ज़ोर देकर बन्द की गयी है। जूता पहनने में देर लगती, अतएव उसके चप्पल ही पैरों में डालकर मैं जो सहन में आया, तो देखता हूँ—कहीं कोई नहीं है।

अब मैं कहां जाऊँ और क्या करूँ! उसे खोजूं भी तो कहां खोजूं!

इसी समय मुझे यह भी ख़याल आया कि सम्भव है, वह लैवेटरी की ओर गया हो।

हृदय मेरा उस समय धड़क रहा था और नींद पूरी न होने के कारण आँखों में कड़ुआहट भरी हुई थी। धीरे-धीरे समय बीत रहा था और मैं शिथिल-सा पड़ता जा रहा था। उधर मन-ही-मन मैंने तय कर रहा था कि मैं अब इसकी ज़रा भी चिन्ता न करूँगा। चूल्हे-भाड़ में जाय। जैसा करेगा, वैसा भोगेगा। व्यर्थका दर्द-

सिर मैं क्यों पालूँ। मुझपर उसकी क़तई ज़िम्मेदारी नहीं है। अब मैं अपने कमरे में जाकर लेट रहा। उसी क्षण उसकी चारपाई के सिरहाने जो मेरी दृष्टि गयी, तो मैंने देखा, एक जासूसी उपन्यास खुला रखा हुआ है। मैंने झट उसे उठा लिया और पढ़ना शुरू कर दिया। इसके बाद मैं कब सो गया, मुझे कुछ पता नहीं चला। अन्त में उठा तब, जब एक आदमी ने मुझे आकर जगाया। वह बोला—"पड़ोस के एक आदमी के साथ आपके साथी की मारपीट हो गयी और उनके मत्थे पर गहरी चोट आयी है। चलिये, वे पास ही दूसरे कमरे में हैं।"

और इसी समय होटल का मैनेजर आ धमका। वह बोला—"बड़ी भद्दी बात है! आप लोग शरीफ़ आदमी होकर ऐसी बेजा हरकत करते हैं!! मैंने तो एक जैण्टिलमैन समझकर ठहराया था।"

मैं उत्तेजित हो उठा। मैंने कहा—"आप क्या ऊटपटाँग बक रहे हैं! आपको इतनी तमीज़ होनी चाहिये कि आप किसके सामने हैं।"

अब मैनेजर ने मुझे जो एक बार सिरसे पैर तक जो देखा, तो थोड़ा मुलायम पड़ते हुए वह बोला—"मेरा मतलब यह है कि यह होटल शरीफ़ लोगों के लिए है। यहाँ कोई इस तरह की बात नहीं होनी चाहिये, जिससे पब्लिक में इसके इन्तज़ाम के मुतल्लिक किसी तरह की बदगुमानी फैलने का मौक़ा आये।"

मैंने पूछा—"आख़िर माजरा क्या है? हुआ क्या? आप किस शख़्स की बाबत इस तरह की बातें कर रहे हैं?"

इसी समय एक सेठजी मेरे पास आकर बोले—"मैं आपके हाथ जोड़ता हूँ, मुझे बचा लीजिये। मुझसे समझने में ग़लती हो गयी और आप के साथी को सीढ़ी से गिरने में चोट आ गयी। चोट गहरी है, ख़ून अब तक बह रहा है और उन्हें होश नहीं आ रहा है। चलिये, देर न कीजिये।"

इसी क्षण जाते हुए मैनेजर बोला—"अब आप लोग आपस में निपट लीजिये। मुझसे कोई मतलब नहीं।"

मैं ज़रा भी विचलित नहीं हुआ। न मुझे किसी तरह का दुःख हुआ। मैं यही सोचने लगा—"चलो अच्छा हुआ। कथा समाप्त हो जाय, तो और भी अच्छा हो!" मैं तो जानता था कि कुछ-न-कुछ किये बिना उसको चैन मिलेगा नहीं।

यह सब कुछ था। लेकिन मेरा हृदय फिर भी धड़क रहा था। एक बार मेरे भीतर तत्काल यह भी आशङ्का हो उठी कि क्या सचमुच इसी घटना से इसका अन्त हो जायगा? यद्यपि मुझे इसपर विश्वास नहीं हो रहा था।

मैं सेठजी के साथ उनके कमरे में जा पहुँचा।

यह कमरा कुछ बड़ा है। बीच में प्लाई-उड के द्वारा ऐसा पार्टीशन कर लिया गया है कि चाहे तो यात्री पर्दानशीन बीबी को भी साथ रखकर, अपने दो-एक मित्रों को चाय आदि के लिए आमन्त्रित कर सकता है। शेष सजावट सब लगभग उसी प्रकार है, जैसी अपने कमरे की। यह सब मैंने पलक मारते देख लिया।

सामने एक बड़ा पलँग। गद्दा, उसपर सफ़ेद चद्दर। चद्दर पर ख़ून के दाग़। मत्थे पर दायीं ओर घाव। इतमीनान से बायीं करवट लेटे हुए हैं। आंखें बन्द हैं और दूर से जान ऐसा पड़ता है कि सांस नहीं आ रही है। मेरे मन में आया कि चाल तो इसने ऐसी चली है कि एकदम अचूक बैठ गयी। पर मुझे आया जान यह जो ज़रा हिल-डुल ही जाय, तो सारा खेल चौपट हो जाय!...कुछ हो, आदमी जीवट का है।

इसी समय सेठजी बोले—"अब मैं क्या करूँ! जो कुछ ख़र्च पड़ेगा, मैं दूँगा। पर आप मुझे बचा लीज़िये। इनको फौरन् हास्पिटल ले जाइये।"

मैंने आँखोंकी पलकें उलटाकर देखीं, फिर नाड़ी देखी। एक दृष्टि इसी बीच सेठानी जी पर भी जा पहुँची। उस समय वे कोयलों पर रुई गरम

करके उसका मत्था सेंक रही थीं। बोलीं--"बाबूजी, मैं क्या बतलाऊँ आपको। मैंने इनको कितना समझाया कि कोई बात नहीं है। लेकिन किसी तरह इनका शक ही न गया। मैं तो आप जानो कि ज़रा-सी देरको छतपर—क्या कहते हैं उसे आपकी अँगरेज़ी में?—पानी बनाने चली गयी थी कि बस, इतने में ही इन्होंने चाहा कि बाबूजी को दौड़कर पकड़ लें—कि इतने में वे सीढ़ी पर से गिर पड़े। बाबूजी, ये मेरे स्वामी हैं; फिर भी इनका मुझ पर विश्वास नहीं। इनका दिमाग इतना फिर गया और इन्होंने कुछ-का-कुछ समझ लिया। बस, इतनी-सी बात है बाबूजी। हम लोगों का तो कोई कसूर है नहीं।"

और इतना कहती हुई वह अपने आँसू पोंछने लगी। यद्यपि उसकी आँखों में आँसुओं का नाम तक न था। कण्ठ अवश्य कुछ बदलता हुआ था। तात्पर्य्य यह कि अभिनय को उदारता-पूर्वक पचास प्रतिशत अंक दिये जा सकते थे। क्षण-भर के लिए मित्र की दशा से मेरा ध्यान ज़रा हट गया और मैं सोचने लगा, विवाह के द्वारा पत्नी का सर्टिफ़िकेट पा जाने के बाद संस्कृति-रक्षा के नाम पर सतीत्व का यह रंगीन प्रदर्शन एक सामाजिक कुष्ट से किस प्रकार कम है? साथ ही वासनात्मक तृप्ति देने में सर्वथा असमर्थ पति के अभाव में भूखी नारी की यह स्थिति कितनी स्वाभाविक किन्तु कितनी दयनीय है!

इसी क्षण सेठजी ने घबड़ाहट के साथ कहा-"-अब आप देरी न कीजिये। इनको हास्पिटल पहुँचाइये।"

अब तक मैं शान्त था। क्या हुआ और कैसे हुआ, यह समझने में मुझे इतना समय लगना स्वाभाविक भी था। लेकिन अब मैं पहले की अपेक्षा अधिक सजग था। मैंने कहा—"कहा नहीं जा सकता कि क्या होगा। हालत तो ख़राब है ही। हास्पिटलमें भी क्या आप समझते हैं कि दस-पाँच रुपये से काम चल जायगा! अच्छे भी होने को हुए, तो तीन महीने तो हास्पिटल में ही रहना पड़ेगा। और न हुए, तो पुलिस अलग आप पर केस चलायेगी। आप और सेठानी जी दोनों-के-दोनों लटके-

लटके फिरेंगे; और बेइज्जत होंगे, सो अलग। कम-से-कम दो हज़ार रुपये इसी वक्त चाहिये। लेकिन अगर आपने देर कर दी, तो फिर मेरे बनाये कुछ न बनेगा।"

* * *

और हफ्ते-भर बाद जब वह कुछ अच्छा हो चला, तो बहुत जिरह करने के बाद उस शैतान ने मुसकराते हुए कहा--"हाँ यार, मर तो मैं चोट खाने से पहले ही चुका था!"

नर्तकी

यह स्त्री जो इस समय मेरी दायीं ओर बैठी हम लोगों के लिये चाय ढाल रही है, मैं इससे घृणा करता हूँ। मेरी तबीयत नहीं गवारा करती कि मैं इसकी ओर देखूं भी। और सच तो यह है कि मैं अभी, इसी समय यहाँ से उठकर चल देना चाहता हूँ। यद्यपि मुझे भूख लग रही है और मैं यहाँ इन लोगों के साथ आया भी था, कुछ खाने ही के लिये, लेकिन अब मैं यहाँ बैठना भी नहीं चाहता। मैं चला जाऊँगा, अभी तुरन्त उठता हूँ। बस उठता ही हूँ। लो, मैं उठा।

"क्यों? कैसे उठ खड़े हुए?" ब्रजमोहन ने पूछा। वे प्रोफेसर साहब हैं। लिखते भी हैं कुछ। अच्छा लिख लेते हैं। मुझसे अवस्था में कुछ छोटे हैं। स्वभाव के भी कम गम्भीर नहीं हैं। इनकी बात मैं टालता भी बहुधा कम हूँ। लेकिन इस समय मैं इनसे क्या कहूँ। अजीब हालत में हूँ। क्या मैं इनसे साफ-साफ कह दूँ कि हज़रत, मैं इस स्त्री के साथ बैठकर चाय नहीं पी सकता? मैं चाहूँ तो कह सकता हूँ। लेकिन सोचता हूँ, मुझे ऐसा कहना न चाहिये। अच्छा, मैं नहीं कहूँगा।

लेकिन मैंने कहा और कहा यह कि मेरी तबीयत बहुत ख़राब हो रही है। जी मितला रहा है। मैं यहाँ बैठ नहीं सकता। मुझे माफ़ कीजिये। मैं घर जा रहा हूँ।

इसी समय ब्रजमोहन ने पूछा—"आप तो अभी दो-एक दिन ठहरेंगी न, विमला देवी ?"

"जी" साड़ी को ख़ाँमख़ाँ ज़रा सँभालते हुए देवीजी ने एक बार अपनी दृष्टि मेरी ओर घुमाकर कहा—"मैं कल चली जाऊँगी। परसों मुझे अपना क्लास जो लेना है।" फिर कुरसी से उठीं। और लोग भी उठे। विमला देवी ने इस बार अपनी साड़ी को पैर के पास फिर ज़रा सँभाला और इस सिलसिले में उन्हें झुकना भी पड़ा। अनावृत खुली गोरी मांसल बांहें देख पड़ीं और हरी जमीन पर नीले छींटों का ब्लाउज और...।

ख़ैर ! मैंने सब लोगों को लक्ष्य कर कह दिया—"अच्छा नमस्ते।"

उन्होंने भी प्रति नमस्कार किया। दो क़दम मेरे पीछे-पीछे आने को भी हुईं। और लोग भी थे। मैंने कहा—"अब आप लोग बैठिये। तबीयत ठीक होती, तो मैं...... । आह !" और मैंने पेट पकड़कर ऐसा भाव प्रदर्शित किया, जैसे ज़ोर की एंठन हो रही हो।

ब्रजमोहन बोला—"घर तक भेज आऊँ न ? रास्ते में कौन जाने, कहीं तबीयत ज़्यादा न ख़राब न हो जाय।"

और लोग भी आ गये, कुछ और निकट। विमला देवी बोलीं—"कालिक-पेन तो नहीं है ?"

मैंने उनकी ओर बिना देखे कह दिया—"नहीं। मैं अकेले ही चला जाऊँगा। दस क़दम पर डाक्टर मिश्रा मेरे मित्र हैं। आप लोग बैठिये। चाय ठण्डी हो जायगी।"

"अच्छा...तो...फिर नमस्ते।" कहते हुए विमला देवी ने एक बार फिर नमस्कार किया। और लोगों ने भी उनका साथ दिया। कृष्णकुमार ने हाथ मिलाया। क्रमशः एक मिनट के अन्दर सब लोग लौट गये। केवल ब्रजमोहन रह गया। बोला—"मैं तो भाई तुम्हारे साथ चलूंगा। मुझे इस चाय से दिलचस्पी नहीं। मैं तो केवल तुम्हारे साथ के विचार से चला आया था।"

इस तरह अब मैं इतमीनान के साथ घर लौट रहा हूँ। मुझे प्रसन्नता है कि ऐसी स्त्री के साथ बैठकर उसके हाथ की ढाली, बनायी--जी हाँ घोली—चाय मैंने स्वीकार नहीं की।

बैलिरियो के बाहर सड़क पर आ गया हूँ। फुटपाथ पर अनेक स्त्री-पुरुष आ-जा रहे हैं। अन्य नगरों को आजकल ब्लैक-आउट के कारण बिजली की पूरी रोशनी लभ्य नहीं है। लेकिन इस नगर में अभी तक इस तरह का कोई प्रतिबन्ध नहीं है। इसलिये जब लोग सामने, दायें और बायें से आते हैं, तब उन पर एक दृष्टि साधारण रूप से पड़ ही जाती है। लेकिन मैं अपनी ओर से किसी को देख नहीं रहा हूँ। इस कारण नहीं कि कहीं अप्रत्याशित रूप से, अनायास, किसी-न-किसी प्रकार, विमला देवी न आ टपकें। इस कारण भी नहीं कि इन आने-जाने वालों के समुदाय—या किसी व्यक्ति-विशेष—से मुझे किस प्रकार की विरक्ति है। वरन्, इस कारण कि मुझे इन लोगों से आख़िर कोई मतलब भी तो नहीं है। तब फिर मैं क्यों इनकी ओर दृष्टि डालूँ। व्यर्थ ही होगा न उनकी ओर देखना? हाँ, यह ठीक है। मैं किसी की ओर देख नहीं रहा हूँ। मैं चल रहा हूँ। मैं तो चल रहा हूँ। केवल घर पहुँचने की ओर मेरा ध्यान केन्द्रित है।

व्रजमोहन ने पूछा—"अब कैसी तबीयत है?"

"तबीयत ठीक ही है।" मैंने टहलते हुए कह दिया—"उसको कुछ होना-जाना थोड़े ही है। उस वक्त मालूम नहीं, क्या बात हुई, कैसे हुई कि तबीयत इस बुरी तरह घबरा उठी कि एकदम से ऐसा जान पड़ा, जैसे मैं मूर्छित होकर गिर पड़ूँगा।"

"तो अब तो ठीक है न?" व्रजमोहन ने पूछा।

मैंने उत्तर दिया—"ठीक तो जान पड़ती है, अगर रास्ते में फिर जी न घबरा उठे।"

व्रजमोहन बोला—"तो फिर ताँगा किये लेते हैं। यों पैदल चलने में तकलीफ़ बढ़ सकती है।"

मैंने कहा— "नहीं भाई। मैं इसी तरह घर तक चला जाऊँगा। मुझे सवारी की क़तई ज़रूरत नहीं है। देखो न पवन कितना शीतल और सुखद है। आकाश भी निर्मल है। और चन्द्र-ज्योत्स्ना का क्या कहना! ऐसे समय पैदल चलते हुए अच्छा कितना लग रहा है!"

ब्रजमोहन बोला—"लेकिन बैलरिश्रो में आपको इस समय इससे भी अधिक अच्छा लगता। आपको मालूम नहीं है, विमला देवी बहुत उच्चकोटि की नर्तकी है। मुद्राओं के द्वारा वे मानव भावनाओं के उद्-घाटन में अपने-आपको इतना लीन कर डालती हैं—इतना समर्पित—कि दर्शक आनन्द-विह्वल हो उठते हैं।"

"आश्चर्य से मैंने कह दिया —अच्छा!"

वह बोला—"फिर आप ठहरे मनोविज्ञान के आचार्य। आपको तो और भी अधिक आनन्द आता। कृष्णकुमार ने जब बहुत अनुरोध किया, तब कहीं उन्होंने आज अपना नृत्य प्रदर्शित करना स्वीकार किया था। मैंने भी कम ज़ोर नहीं डाला—बल्कि आपके नाम का भी उपयोग किया था।

"क्या कहा?" ऐसा जान पड़ा, जैसे मेरे सारे शरीर में बिजली दौड़ गई हो। तभी मैंने कुछ अधिक गम्भीर होकर, बल्कि थोड़ी-सी रुखाई का भी अवलम्बन लेकर, कहा—"आपने मेरे...मेरे...नामका भी उपयोग किया।"

"हाँ भाई, आख़िर फिर करता क्या?" वह बोला—"यों वे किसी तरह न आतीं।"

"यह तुमने कैसे जाना? और तुम यह कह क्या रहे हो!" मैंने पूछा।

"क्यों, इसमें जानने की क्या बात है?" वह कहने लगा मैंने दस मिनट के उस अत्यधिक आग्रह और अनुरोध पर भी जब वे राज़ी नहीं हुई, बराबर यही उत्तर देती रहीं, "मुझे अवकाश नहीं है। मैं असमर्थ हूँ। आप लोग मुझे क्षमा करें।" तब मैंने कहा—"जनार्दनजी भी

आयेंगे; " तो उनकी मुद्रा—उनकी आकृति ही—एकदम से बदल गयी। बोलीं—"आप उन्हें ले आयेंगे!" जैसे उनको विश्वास ही नहीं हो रहा था कि आप भी उनका नृत्य देखने को आ सकते हैं!

"लेकिन इसके लिये तुमको मुझसे पूछ तो लेना चाहिये था!" मैंने कहा—"मैं यदि ऐसा जानता, तो...... ख़ैर। ......आह!" और मैंने फिर अपना पेट इस तरह पकड़ लिया कि जैसे एकदम मुट्ठी में भर लिया। और मैं वहीं फ़ुटपाथ पर एक कोठी के द्वार की सीढ़ी के आगे बैठ गया।

ब्रजमोहन कहने लगा—"मैंने तो पहले ही कहा था कि ताँगा कर लेने दीजिये। आपने ही ज़िद की। अब मुझको वहीं, फिर उतनी ही दूर, ताँगा लाने जाना पड़ेगा। यहाँ तो कहीं देख नहीं पड़ता। ख़ैर मैं जाता हूँ। आप तब तक यहीं ठहरिये। मैं हाल आया।"

और इतना ही कहकर वह उधर ही लौट पड़ा, जिधर से हम लोग आ रहे थे। वह दौड़ा जा रहा था, यद्यपि मैंने उसे इसके लिये बहुत मना किया। मैंने कितनी ही बार कहा कि अभी फिर ठीक हुआ जाता जाता है, परन्तु वह नहीं माना और भागता ही चला गया। अब मैं क्या करूँ? अजीब हालत है! यद्यपि पेट में दर्द वास्तव में ज़रा भी नहीं है, लेकिन कहीं-न-कहीं तो दर्द है ही। यह मैं कैसे कह दूँ कि दर्द नहीं है। ऐसी रमणी से—जो......जो......। ख़ैर, सब व्यर्थ है। मैं कुछ नहीं कहना चाहता। क्या मैं कुछ कहूँगा? अरे राम कहो। मैं उसका नाम तक नहीं लूंगा। परन्तु इस उल्लू को यह सूझा क्या कि इसने बिना मुझसे पूछे—बिना मेरी अनुमति लिये—कह दिया कि वे भी आयेंगे, उन्हें भी मैं साथ ले आऊँगा। ये लोग वास्तव में बड़े गँवार है, उत्तरदायित्व किस चिड़िया का नाम है, इतना भी नहीं जानते।

किन्तु यह क्या है! यह साहब ज़ीने पर से उतरकर मुझसे पूछ रहे हैं—"आप यहाँ कैसे बैठे हैं?" अब मैं इन्हें क्या जवाब दूं? क्या मैं यहाँ से भाग खड़ा होऊँ! लेकिन उसका अर्थ यह लगाया जायगा

कि मैं चोर उठाईगीर अथवा कोई बदमाश हूँ और किसी घात में यहाँ बैठा हूँ। संभव है, मेरे भागते ही यह ज़ोर से चिल्ला उठे—"पकड़ो, पकड़ो इसको। यह चोर है, बदमाश है। कोई चीज़ चुराकर भाग रहा है।" लोग चारों ओर से मुझे घेर लेंगे। तब तक ब्रजमोहन भी आ धमकेगा! कहेगा—"आपको यह सूझा क्या, जनार्दन दादा?"

तो लो, ब्रजमोहन भी आख़िर ताँगा ले ही आया। बोला—"चलिये। यहीं आगे मिल गया। दूर नहीं जाना पड़ा।...तबीयत तो ठीक है न?"

"अच्छा, तो प्रोफ़ेसर साहब आप हैं। माफ़ कीजिएगा, मैं अभी आपको यहाँ बैठने के लिये···। लेकिन यह तो आपका ही घर है। आप ऊपर मेरी बैठक में क्यों नहीं इन्हें ले आये। ख़ैर, जब आपके इन साथी महोदय की तबीयत इस कदर ख़राब है, तो अब इस वक्त इन्हें कहीं ले जाने की ज़रूरत नहीं है। चलिये, ऊपर चलिये। आप उधर से एक कन्धा थाम लीजिये, इधर से मैं सहारा दे रहा हूँ।"

ब्रजमोहन बोला—"नहीं राय साहब, तबीयत इतनी अधिक ख़राब नहीं है कि यहीं ठहरना ज़रूरी हो। यों ही ज़रा-सी पेट में ऐंठन होती है। क्यों दादा?"

मैं कह रहा हूँ—"आप क्यों इतने चिंतित हो रहे हैं। मैं बिलकुल अच्छा हूँ। मैं घर चला जाऊंगा। ताँगा तो आ ही गया है। इसके सिवा घर भी मेरा अधिक दूर नहीं है।"

और ये अजीब राय साहब हैं कि अपनी ही जोत रहे हैं—"लेकिन यह भी तो आपका ही घर है। डाक्टर भी अपने ही घर के हैं। मैं अभी फ़ोन करके उनको आपके सामने हाज़िर कर दूँगा। आप इतमीनान से रहिये। जब तबीयत बिलकुल ठीक हो जाय तो, भले ही चले जाइयेगा। इसके सिवा अभी मुझसे यह अपराध भी तो हो गया है आप इस तरह चले जायँगे, तो मुझे कैसे संतोष होगा कि आपने मुझे क्षमा कर दिया। यों

मैं इस तरह का बेहूदा सवाल कभी किसी ग़ैर से भी नहीं करता। लेकिन आप जानते हैं, ज़माना कितना ख़राब लग रहा है। मेरे मन में आया कि कह दूँ—हाँ साहब ज़माना इतना ख़राब आ गया है कि हर एक नया आदमी चोर-बदमाश जान पड़ता है। किन्तु उसी क्षण ब्रजमोहन बोल उठा—"बात यह हुई कि जब मैंने देखा, इनकी तबीयत इस क़दर ख़राब हो रही है कि घर तक पहुँचना कठिन है, तो मैं इनको यहीं छोड़कर तांगा लेने चला गया। मगर मुझे मुश्किल से दो मिनट लगे होंगे।"

राय साहब बोले—"जी, वह तो मैं उसी समय समझ गया, जब आप इन्हें लेने के लिये आये और बोले कि······। ख़ैर, अब ऊपर चलिये··लौटा ले जाओ जी तांगा। ज़रूरत नहीं है।

मैं हरचन्द समझा रहा हूँ कि आप तकलीफ़ न कीजिये। मैंने कुछ भी बुरा नहीं माना। मेरी तबीयत भी बिल्कुल ठीक है। लेकिन ये राय साहब किसी तरह मान ही नहीं रहे हैं। अजीब हालत है। अब मैं क्या करूं। और राय साहब अपनी ही जोते जा रहे हैं—"आप घण्टे-आध-घण्टे तो ज़रा आराम से बैठ लीजिये। ऊपर; जल पीजिये, पान खाइये। आख़िर, हम इतने से भी गये। यों तो आप कभी मेरी इस कुटीर पर आने से रहे।"

तो इस प्रकार विवश होकर मैं इस सीढ़ी पर चढ़ रहा हूँ। मैं कहाँ जा रहा हूँ, कुछ नहीं जानता। इतना ही संतोष है कि उस पापात्मा के पास नहीं बैठा हूँ, उस कुलटा के साथ बैठकर उसके हाथ की ढाली चाय नहीं पी रहा हूँ, जिसने···, जिसने···।

कमरा वास्तव में बहुत सजा हुआ है। बोध हो रहा है, राय साहब एक सुरुचि-सम्पन्न व्यक्ति हैं। इस खालिश शीशे के टेबिल को तो देखते ही बनता है। और यह कुर्सी भी अजीब है, चारों ओर से कितनी गुदगुदी उत्पन्न करती है यह! और ये कला-पूर्ण चित्र, आयल-पेंटिंग्ज़ और दीवाल की चित्रकला। एक ओर भगवान् बुद्ध, दूसरी ओर लेनिन और मार्क्स। और महात्मा गांधी की यह खिलखिलाहट भी इन रेखाओं में ख़ूब बोलती है।

—"लेकिन मैं खाऊँगा कुछ नहीं। जी नहीं, ज़रा भी नहीं। अरे भाई साहब, आख़िर मुझे घर ही जाना है। माँ मेरी प्रतीक्षा में बैठी होंगी। फ़िर अभी मेरे पेट में दर्द रहा है। आख़िर आप चाहते क्या हैं!"

—"लेकिन थोड़ी-सी बिस्टो तो ले ही सकते हैं।" और इतना कहकर मेरा मौन देखकर राय साहब अन्दर चले गये। अब इस कमरे में केवल ब्रजमोहन है और मैं। क्या इस अवसर पर मैं इससे कहूँ कि कभी विमला देवी का नाम मेरे सामने न लो। मुझे बहुत तकलीफ होती है। मैं अपने को सँभाल नहीं पाता। मैं चाहता हूँ कि कोई मुझसे आकर कहे—"वे पीड़ित है, उसका माँस सड़ गया है। उसके बदन से सड़ाँ-हँध फूट रही है और उसके घावों में कीड़े बुलबुला रहे हैं। वह एक-एक बूँद पानी के लिये तरस-तरसकर मर रही है। उसकी लाश कूड़े के गर्त में पड़ी है और कुत्ते और गिद्ध उसका मांस नोच-नोचकर खा रहे हैं! उसकी आँखों पर कौवे ने अभी-अभी चोंच मारी है।

"अगर कोई मुझे उसके विषय में इस प्रकार का संवाद दे, तो मुझे कितनी प्रसन्नता होगी, कह नहीं सकता।

लेकिन मैंने तय कर लिया है, मैं इस ब्रजमोहन से भी कुछ कहूँगा नहीं। इसीलिये मैं चुप हूँ। मैंने सोचा, पर मुझे इस तरह गम्भीर देखकर ब्रजमोहन चुप नहीं रहेगा। अतएव मैंने उसकी ओर ध्यान से देखा। मैंने देखा कि वह भी कुछ उलझन में है। एक उद्विग्नता उसके मुख पर खेल रही है। कुछ प्रश्न उसके भीतर उभर रहे हैं। वह कुछ कहना चाहता है, लेकिन कह नहीं पाता। किन्तु उसने अपनी यह स्थिति अपने-आप बनायी है। कितनी नादानी, कैसा *लड़कपन है उसमें! मेरे व्यक्तित्व को उसने कुछ भी महत्व नहीं* दिया। ऐसी घातक, ऐसी अविश्वसनीय, मित्रता को मैं ताक़ पर रख देता हूँ। ऐसे मामलों में मैं किसी को क्षमा नहीं कर सकता। मैं अजेय हूँ, अपने विश्वासों के प्रति एक निष्ठा मैं रखता हूँ, उनसे तिल-मात्र विचलित नहीं हो सकता।

ब्रजमोहन इसी समय बोल उठा—"क्या मेरा आप पर इतना भी अधिकार नहीं है कि ऐसे अवसर पर किसी सम्भ्रान्त रमणी से आपके सम्बन्ध में इतनी सी बात कह सकूं कि मैं उन्हें ले आऊँगा !"

मैंने कहा—"हाँ, सचमुच ऐसे गम्भीर विषयों के सम्बन्ध में मैं किसी पर विश्वास नहीं करता। और विशेष रूप से इस विषय में आपका मेरे ऊपर कोई अधिकार है, यह सोचना तो क्या, इसकी कल्पना करने का भी आपको कोई अधिकार नहीं है। मैं किसी के अधिकार को नहीं मानता। अधिकार, अधिकार मिलता है, कर्त्तव्य-पालन और त्याग से। अधिकार एक शक्ति है, जो साधना, संयम और तपस्या से मिलती है। अधिकार न समझ लेने की वस्तु है, न याचना की। उसे तो अपने उत्सर्ग और बलिदान से प्राप्त करना होता है।"

ब्रजमोहन रुष्ट होकर उठ बैठा। बोला—"तो फिर आप मुझे क्षमा करें। मैं जा रहा हूँ।"

और मेरे मुंह से निकल गया—"हाँ, आप जा सकते हैं।"

किन्तु इसी क्षण मैं देखता क्या हूँ, एक कुटिल और घातक, एक विषाक्त और मादक मुसकान के साथ विमला देवी विम्टो का गिलास लिये मेरे सामने खड़ी हैं। वह कह रहीं हैं—"मैंने सोचा कि आप तो वहाँ उपस्थित रहेंगे नहीं, अतएव मैंने अपना डांसिङ्ग परफारमेंस (नृत्य-प्रदर्शन) भी स्थगित कर दिया।···अब तो तबीयत अच्छी है न ?"

विमला के साथ उसके पीछे इस घर की कुछ अन्य युवतियाँ भी हैं—अन्त में पानों से मुंह भरे हुए राय साहब।

तत्काल ब्रजमोहन की ओर देखकर मैंने कह दिया—"ठहरो, ज़रा विमला देवी का नृत्य देखते जाओ।"

ब्रजमोहन फिर यथास्थान बैठ गया।

और मेरे मुंह से निकल गया—"हाँ, विमला देवी, अब तुम अपने नृत्य में ज़रा दिखलाओ तो सही कि अपने प्रेमी को प्राप्त करने

के लिए उसकी प्राण प्यारी नवभार्या की हत्या विष देकर कैसे की जाती है, कैसे कला के सत्य, शिव और सुन्दर स्वरूप की प्रतिष्ठा के नाम पर यौवन, सौंदर्य और प्रेम का नित्य नव-नव प्रकारों से नीलाम किया जाता है ! और अन्त में प्रतिहिंसा की यथेष्ट पूर्ति न होने पर कैसे विम्टो के गिलास में······।

वाक्य पूरा भी न हो पाया था कि पहले गिलास विमला देवी के हाथ से छूटकर सङ्गमरमर के फर्श पर गिर कर चूर-चूर हो गया; तदनन्तर विमला देवी—! यह रक्त और विम्टो और......!!

छोटे बाबू

"भैया मेरी दशा देखकर बहुत दुखी रहते थे। मेरे लिये उन्होंने अपनी जीवन-भर की कमाई तक लुटा देने का भयंकर संकल्प कर लिया था। डाक्टर आचार्य को मेरी चिकित्सा के लिये उन्होंने पाँच सौ रुपए महीना देना स्वीकार किया था। डाक्टर साहब दिन-भर में तीन-चार बार मुझे देखने आते थे। मेरी देख-भाल में वह अपना अधिक-से-अधिक समय देते थे। उनकी तल्लनीता का मेरे स्वास्थ्य पर प्रभाव भी पड़ रहा था। अब मैं उनके साथ दो-चार फ़रलांग तक टहल लेने लगा था। प्रातःकाल तो वह पहले से ही टहलाने ले जाते थे, पर इधर जब से वसंत-ऋतु अपने यौवन पर आ रही थी, तब से तो वे मुझे सायंकाल को भी टहलाने ले जाने लगे थे। ऐसा ज्ञान पड़ने लगा था कि धीरे-धीरे मेरा स्वास्थ्य सुधर रहा है। परन्तु फिर भी मेरी दशा में जो प्रतिकूल परिवर्तन ही होते गए, वे अकारण नहीं हैं।" इन्द्र जब इतना कह चुका, तो मैंने कहा—"आप अब लेट जाइये। बैठे-बैठे आपको कष्ट हो रहा होगा।"

"कष्ट! यह आप क्या कह रहे हैं तिवारीजी! जिस दिन मैं बीमार पड़ा था, उसी दिन मैंने यह तय कर लिया था कि अब मुझे अपनी इहलीला समाप्त कर देनी है। इतने दिनों तक बीच में जो झूलता

रहा—हिंडोले में ही सही--सो तो भैया का स्नेहातिरेक का फल समझो, और कुछ नहीं। मैं खुद भी तो दुबिधा में पड़ गया था। मैं स्वयं भी तो यही सोचने लगा था कि क्या बुरा है, यदि दो-चार वर्ष और बना रहूँ, मुन्नू को पढ़ा-लिखा लूँ। मैंने जीवन में बड़े-बड़े कष्ट झेले हैं। आप तो उनकी कल्पना-मात्र से काँप उठेंगे। यह कष्ट तो उनके सामने कोई चीज़ नहीं है। आज आपको इसीलिये बुलाया भी है। चलाचली का समय ठहरा। पता नहीं, किस दिन प्रस्थान कर बैठूं। इसीलिये भीतर जो कुछ भी संचित कर रक्खा है, जिसे अब तक कहीं भी, किसी के भी सामने उपस्थित नहीं किया, आज उसे आपको समर्पित कर देना चाहता हूँ।"

इतना कहकर इन्द्र ने शीशे के एक छोटे गिलास में थोड़ी-सी मदिरा ढालकर कंठ से उतार ली। उसके जर्जर शरीर-भर में उसका एक मुख ही ऐसा था, जिसमें थोड़ी-सी कांति शेष रह गई थी। अब वह और भी प्रदीप्त हो उठी। तश्तरी में रखे चाँदी के वर्क़ लगे पानों को मेरी ओर बढ़ाते हुए इन्द्र के मुख पर ज़रा-सी मुस्कराहट दौड़ गई, जैसे वह मेरी मुद्रा देखकर मेरे भीतर के भाव को ताड़ गया हो। मैंने जब पान ले लिये, तो उसने कहा--

"मैं जानता हूँ, मुझे मदिरा-पान करते हुए देखकर आपके हृदय में मेरे प्रति एक प्रकार की अप्रीति-सी मुखरित हो उठी है। परन्तु तिवारीजी दो दिन बाद जब आपके साथ मेरी ये बातें ही रह जायँगी, तब आप यह अनुभव करेंगे कि मैं इसके लिये कितना विवश था! आप सोचेंगे कि इन्द्र ऐसी स्थिति में सचमुच तिरस्कार और घृणा का नहीं, एकमात्र दया का ही पात्र था।

"अभी डेढ़ वर्ष पूर्व की बात है। भैया बम्बई चले गये थे। यहाँ घर पर अम्मा थीं, और 'करुणा' नाम की मेरी छोटी बहन। यद्यपि करुणा का विवाह हो चुका था, पर वह भी उन दिनों यहीं थी। मेरा यह मकान ही केवल मेरी संपत्ति में शेष रह गया था। सो इस

पर भी महाजन के गरल-दंत जा लगे थे। तीन वर्ष के कठोर कारागार-वास के पश्चात् जब मैं लौटा, तो मेरी आँखों के समक्ष अंधकार था। तीन हज़ार रुपया तो मूल ऋण था, परन्तु ब्याज लगने के कारण रक़म पाँच हज़ार के लगभग हो जाती थी। और, उस समय मेरे पास ऋण चुकाने के नाम पर फूटी कौड़ी भी न थी। जिस दिन से लौट कर आया था, उसी दिन से चिन्ता के मारे सोना हराम हो गया था। अगर मैं जेल न गया होता, तो मेरी यह दुर्गति न हुई होती, बारम्बार मैं यही सोचता था। देश-भक्ति जैसे पवित्र धर्म-पालन का यह पुरस्कार मेरे लिये कैसे संतोषकर होता, जब कि अम्मा जब देखो तब मुझसे यही कहा करती थीं—"चलो, अब पुरखे तो तर जायँगे। एक पूत बंबई में काला मुँह कराने गया है, दूसरा यहाँ ज़मीन-जायदाद बिकवा रहा है। सेवा करने के लिये कोई मना थोड़े ही करता है; पर भैया, सेवा भी तो अपनी शक्ति-भर ही की जाती है। जब घर में खाने को नहीं है, तो सेवा का कार्य कैसे हो सकता है।" इन्हीं प्रश्नों पर अन्य लोगों को तर्क में हराया करता था पर अम्मा की इन बातों के आगे मेरी कुछ भी न चलती थी। मैं यहाँ तक तैयार था कि कोई इस मकान को रेहन रख ले, और पाँच हजार रुपये मुझे दे दे, ताकि उस महाजन के ऋण से तो एक बार मुक्ति पा जाऊँ। पर जिससे कहता, वही जवाब देता था—"समय बड़ा नाज़ुक लगा है। इसलिये मैंने यह काम कुछ दिनों के लिये स्थगित कर रक्खा है।" पर असल बात यह थी कि लोग सोचते थे—"सम्भव है, नीलाम होने पर और भी सस्ता हाथ आ जाय। इसलिये अपना सीधा हिसाब ही अच्छा है। झंझट का काम ठीक नहीं।"

"इस प्रकार जब मैं सब तरह से निराश हो गया, तो अन्त में एक भयानक संकल्प कर बैठा। सोचा—करुणा अपने घर की ठहरी, उसकी ज़िम्मेदारी से मुक्त ही हूँ। रह गईं अम्मा, सो उनके पास कुछ आभूषण हैं ही। उन्हीं से वह अपने शेष जीवन का निर्वाह कर

लेंगी। अस्तु। अगर इस जीवन को उत्सर्ग ही कर बैठूँ, तो भी कुछ बुरा न होगा। अपमान और ज़िल्लत की ज़िन्दगी से मौत तो हज़ार दरजे अच्छी चीज़ है। निदान मैंने विष लाकर रख लिया, और यह तय कर लिया कि कल जब मकान अपने हाथ से निकल जायगा, तब विष-पान कर सदा के लिये सो रहूँगा। यह ग्लानि मुझसे सही न जायगी।

* * *

"उसी रात को एक बार जीवन-भर की प्यारी-प्यारी स्मृतियों के पृष्ठ उलटने लगा। सन् १६२६ की ५वीं मई का दिन है। उन दिनों भैया यहीं पर थे। बेला बजाने में नाम कमा रहे थे। ताल्लुक़दारों तथा राजों के यहाँ से उनके पास निमंत्रण आया करते। भेंट और पुरस्कार ही का एकमात्र अवलंब रह गया था। अपने हिस्से की सारी संपत्ति वे मिस विमलाबाई पर न्यौछावर कर चुके थे। "भैया के लड़का हुआ था", कहने में कितना अच्छा लगता है। परंतु उन दिनों कुछ ऐसी ही बात थी कि अम्मा उनके हाथ का छुआ पानी तक नहीं पीती थीं। और मुझे भी उनका रुख़ देखकर रहना पड़ता था। परन्तु माता का हृदय बड़ा विशाल होता है। जब सुना कि नाती हुआ है, तो जी न माना। वहाँ कुछ खाया-पिया तो नहीं, पर दिन-रात के चौबीस घंटों में यों समझ लीजिये कि बीस-बाईस घंटे वहीं बिताये। यही हाल कई दिनों तक रहा। लगभग ढाई सौ रुपये अपने पास से ख़र्च भी कर आयी थीं।

"हाँ साहब, जाने दीजिये इन बातों को। ख़ास बात यह हुई कि विमलाबाई मय अपनी छोटी बहन के उनके यहाँ खुशियाँ मनाने आई थीं। उसकी उस छोटी बहन का नाम था मायावती। विमला खिला हुआ गुलाब का फूल थी। उसके विलासभरे नयन-कटोरों में यौवन की मस्ती धूप-छाँह की झिलमिली-सी उत्पन्न करती थी। और मायावती? उसके भोले यौवन में अभी मदिर अनंग-वल्लरियों ने, वासना के वातायन से, प्रवेश तक न कर पाया था। वह मृग-छौनी जिस ओर दृष्टि डालती,

ऐसा जान पड़ता, जैसे उसका कौतूहल उछल-उछलकर चौकड़ी भर रहा है। दुर्व्यसन की दुनियाँ न थी, वहाँ तो दिली अरमानों और हौसलों को पूरा करने का सवाल था। भतीजा हुआ था, भैया की ख़ुशी में और साथ ही अपनी ख़ुशी में आनंद मनाने की बात थी। हालांकि उन दिनों भी में कांग्रेस का कार्य धूम के साथ कर रहा था। परन्तु उत्सव के इस अवसर को छोड़ न सकता था। बहुत दिनों से विमला का नाम सुन रक्खा था, परन्तु उसे देखने का संयोग नहीं प्राप्त हुआ था। उस दिन उसे भी देखा, और 'और भी कुछ'। उस 'और कुछ' में जो देखा, उसे फिर कभी देख न सका। वे दृश्य सोचने को ही रह गये!

"रात के दस बजने का समय था। मकान की बाहरी चौक में महफ़िल जमी हुई थी। चुपके से आकर मैं भैया के निकट बैठ गया। उपस्थिति में एक लहर-सी-दौड़ गई। सब लोगों का ध्यान मेरी ओर आकृष्ट हो गया। नगर-कांग्रेस के सैनिक-मंडल का वीर सरदार इन्द्रशंकर यहाँ कैसे? बैठते ही चश्मा उतारकर, क्लीनर से उसके राइट लैंस को साफ़ करके, अभी मैंने उसे नाक और कानों पर फ़िट किया ही था कि विमला ने संकेत से माया का ध्यान मेरी ओर आकृष्ट करके चुपके-से उसके कान में कह दिया—"छोटे बाबू हैं।"

इतना कहने के बाद विमला ने मुझे देखा, और मैंने माया को। भोली माया ऊपर से थोड़ा शरमाई, भीतर से बहुत। चुलबुलाहट-भरे वे मृग-शावक-लोचन अधोमुखी हो पड़े। मैंने मन-ही-मन कहा—"यह अच्छा नहीं हुआ इन्द्र।" और मैं गम्भीर हो गया।

"अब मैंने जो विमला की ओर देखा, तो उसके रोम-रोम बिहँस रहे थे। उसके मद-भरे आनन पर उस समय उसके भीतर की भीम भावना मुखरित हो उठी थी।

"वातावरण शांत हो गया था। उपस्थित लोगों में से एक ने कहा—"हाँ बाईजी, शुरू कीजिये।"

"विमला बोली—"अब तक मैं ने आप लोगों की इच्छा से गाया था, अब मैं अपनी इच्छा से गाऊँगी।"

"लोगों ने कहा—"वाह! इससे अच्छा और क्या होगा।"

"लेकिन एक शर्त है।" विमला ने कहा—"सरकार मेरी इस चीज़ पर ख़ुद बेला बजा दें।"

"भैया ने बहुत नाहीं-नूहीं की, लेकिन लोग किसी तरह न माने। आख़िरकार उनको मजबूर हो जाना पड़ा। तब विमला ने जैसे दिल की घुंडी खोलकर गाया—

"सजनवाँ, जिया न मानत मोर।"

"उल्लास की उद्दाम भावना से ओत-प्रोत उसके लहरीले कंठ का मृदुल गायन आज भी इन कानों में गूँज रहा है। और, भैया ने भी उस दिन अपनी जो कलामयी तन्मयता बेला बजाने में दिखलाई, वह मेरे स्मृति-पटल पर चिर-स्थिर होकर रह गई।

"मैं वहाँ सिर्फ़ आध घंटे ठहरा था। ऐसे आनन्द का संयोग फिर जीवन में कभी नहीं आया। मैं जब उठने लगा, तो माया ने एक बार फिर मुझे देखा। देखा क्या, मेरी नस-नस के भीतर विद्युत्-संचार कर दिया। बिमला बोली—"बैठिये छोटे बाबू, ज़रा देर और बैठिये।"

"क्या करूँ, अपनी आदत से मजबूर हूँ। इस समय सो जाता हूँ। बल्कि आज तो कुछ देर भी हो गई।" मैंने कहा।

"भैया बोले—"हाँ, ज़्यादा जगने पर इसकी तबियत ख़राब हो जाती है।"

* * *

"पन्ने उलट रहा हूँ।

"सन् १९३० की २६वीं जुलाई का दिन है। भारतीय दंड-विधान की १२४ ए का आमंत्रण प्राप्त कर पुनः······के कारागार में जा पड़ा हूँ। जिस दिन से आया हूँ, उसी दिन से प्रातःकाल राष्ट्रीय गायन का

क्रम चल पड़ा है। इसमें मेरे जेल के अन्य सहयोगी भी सहायक हैं। सुपरिंटेंडेंट तक शिकायत पहुँच चुकी है। उनका आदेश आ गया है कि अगर क़ैदी हुक्म की तामील न करे, तो उसे बीस बेत की सज़ा दी जाय। मैंने जब सज़ा की बात सुन ली, तो उस समय मुझे कितना सुख मिला, कह नहीं सकता। मित्रों ने समझाया – "बात मान लेने में कोई हर्ज नहीं। महात्माजी का कथन है कि जेल के नियमों का उल्लंघन करना क़ैदी का धर्म नहीं।"

"मैंने तपाक से उत्तर दिया—"बको मत। निजी मामलों में मैं किसी भी व्यक्ति के सिद्धांत को वेद-वाक्य मानकर अपनी अंतरात्मा को कुचलना पसंद नहीं करता। जो व्यक्ति स्वतः अपनी दृष्टि में पतित होकर जीवित रहता है, मैं उसे मनुष्य नहीं, उसकी सड़ी लाश समझता हूँ!"

"तब अन्य साथियों में से एक बोल उठा—"तुम सचमुच वीरात्मा हो। तुम्हारा विचार तुम्हारे अनुरूप ही है। तुम्हारी यह दृढ़ता हमारे लिये नाज़ की चीज़ होगी।"

"चेतनावस्था में नौ बेत तक मैंने सहन किये। प्रत्येक बेत के बाद मैं 'वंदेमातरम्' कह उठता था। इसके बाद अचेतना ने मुझे अपनी गोद में ले लिया। आँखें खुलीं, तो अपने को हास्पिटल में पाया। पीड़ा की विकलता को दबाकर मैंने पूछा—"कोई गड़बड़ी तो नहीं हुई डाक्टरसाहब?"

"मेरा मतलब सिर्फ़ यह जानने का था कि कहीं पेशाब-पाख़ाना तो नहीं हो गया था!

"परन्तु वे बोले—"तुम सच्चे बहादुर आदमी हो। किसी ज़िंदा मुल्क में होते, तो आज तुम्हारे नाम पर सल्तनत में एक ज़लज़ला बरपा हो जाता। तुम्हारे पाक दामन पर कहीं दाग़ आना मुमकिन था! मैं तुम्हें 'कांग्रचुलेट' करता हूँ!"

"सुख इस जीवन में क्या वस्तु है, तिवारीजी, इसको लोग जानते नहीं। जिसको लोग घोरकष्ट कहते हैं, अंतरात्मा की प्रतिध्वनियाँ यदि

उसमें संतोष और शांति अनुभव करें, तो वह घोर कष्ट ही जीवन का चरम सुख है।

"आज सोचता हूँ, वे घड़ियाँ मेरे लिये चरम सुख की थीं।"

* * *

"पन्ने उलट रहा हूँ।"

"कई वर्ष हुए, यमद्वितीया के दिन की बात है। भैया की एक छोटी साली थी। नाम था 'शशि'। संयोग की बात, एक बार ससुराल में भैया, भाभी, मैं और शशि सभी एकत्रित थे। शशि का विवाह नहीं हुआ था। उसके लिये ददुआ (ससुरजी) वर खोज रहे थे। यमुना-स्नान की ठहरी। दो ताँगे लाये गये। ददुआ भी साथ थे। एक पर बैठे ददुआ और मैं, दूसरे पर भैया, भाभी और मुन्नू। भैया बोले—"शशि, तू भी इसी में आ।"

"जान पड़ा, शशि के मन में कुछ और है। तब तक ददुआ ने कह दिया—"उसमें जगह नहीं है शशि, इसमें आ जा।"

"शशि अपने तांगे में आ गई। कुछ शरमायी हुई-सी थी। उसे देखने और मिलकर एक साथ बैठकर उससे बात-चीत करने का मेरा यह पहला संयोग था। मैंने सोचा, अगर आज भी इससे वार्तालाप न किया, तो फिर मज़ा क्या आयेगा इस ट्रिप का।

"वह बैठ गई थी, और तांगा भी चल पड़ा था।

"ददुआ शुरू से ही बड़े बातूनी रहे हैं। अब बुढ़ापा आ गया है, इससे क्या! शुरुआत उन्हीं से हुई। बोले—"इन्द्र, सुनते हैं तुम्हारा भाषण बड़ा जोशीला होता है! मैं एक दिन तुम्हारी स्पीच सुनना चाहता हूँ। बड़ी लालसा है।"

मैंने उत्तर दिया—"जब कहो, तब सुना दूँ। मुझे तो बकने का मर्ज़ ही है। घंटे-आध घंटे का नुसख़ा है।"

वे बोले—"यों नहीं सुनना चाहता। तुम्हारा भाषण सुनने में तभी मज़ा आयेगा, जब कम-से-कम पाँच हज़ार की भीड़ हो।"

मैंने कहा—"अच्छी बात है। यदि कभी ऐसा संयोग आने को होगा, तो आपको सूचित कर दूँगा।"

वे बोले—"हाँ, यही ठीक है।"

मैंने देखा, जान पड़ता है, यात्रा का सारा समय ददुआ ने ही हड़प लेने का निश्चय किया है। शशि ताँगे में मूर्तिवत् स्थिर होकर बैठी है। ज्यों ही ददुआ के उपर्युक्त वाक्य से बात का यह क्रम समाप्त हुआ, त्यों ही मैंने पूछा—"शशि, तुम किस क्लास में पढ़ती हो आजकल ?"

"इस वर्ष फर्स्टइयर की परीक्षा में बैठूँगी।" उसने कहा।

"तुम्हारा यह स्कूल तो अभी हाल ही में कालेज हुआ है। पहले तो हाई था।"

"जी हाँ।"

"प्रिंसिपल कौन हैं, मिस बनर्जी ?"

"हाँ।"

"कैसे मिज़ाज हैं उनके ? सुनते हैं, अजीब ख़ब्त हैं उनमें। विवाहित अध्यापिका रखना वे पसन्द नहीं करतीं।"

शशि मुसकराने लगी। बोली—"आश्चर्य है,आप इतनी दूर की—और इतनी भीतर की जानकारी रखते हैं !"

"ख़ैर, जानकारी रखने की कोशिश मैं नहीं करता; परन्तु शिक्षा-विभाग की बातें कभी-कभी सुनने को मिल जाती हैं। बात यह है कि हमारे एक साथी हैं मिस्टर तसद्दुक़ हुसैन। अपने साथियों में एक ही साहसी आदमी हैं। उन्हीं के बड़े भाई मिस्टर नियाज़ुल-हुसैन साहब आगरा-डिवीजन के असिस्टेंट इंस्पेक्टर हैं। इसीलिये तसद्दुक़ भाई के ज़रिए से मुझे भी अक्सर उड़ती हुई ख़बरें मिल जाती हैं।"

"तो क्या उन तक यह ख़बर पहुँच चुकी है ?"

"ख़बर ही नहीं, मैंने ख़ुद भी उनको इस मामले पर इतनी खरी-खोटी सुनाई कि उन्हें कभी भूलेंगी नहीं। मौक़ा आते ही मिस बनर्जी पर ऐसी डाँट पड़ेगी कि वह भी याद करेंगी।"

"अभी मेरी बात-चीत का क्रम भङ्ग न होता, यदि इसके बाद ही ददुआ यह कह न बैठते—"काफी भीड़ आज भी जान पड़ती है। आने में ज़रा देर हो गई और पहले आना चाहिये था।...ठहरो, हाँ सँभल-कर झट से उतरो तो। जल्दी से नहा लेना होगा।"

"भाभी मुन्नू को साथ लिये हुए मेरी ओर आ पहुँचीं। भाभी, शशि और मुन्नू एक साथ होकर उस ओर चल दिये,जिधर महिलाओं के स्नान करने का प्रबन्ध था। इसी समय स्थानीय कांग्रेस-कमेटी के मंत्री पं० श्यामाश्याम मिश्र मेरे निकट आकर 'बन्दे' करने लगे। सन् १६१६ के आंदोलन में वे मेरे साथ छ महीने कारागार-वास कर चुके थे। तभी से उनसे परिचय हो गया था। खड़े-खड़े देर तक उनसे बातचीत करता रहा। आजकल आंदोलन का क्या रुख़ है, भविष्य कैसा प्रतीत होता है, आदि बातों पर बराबर विचार-विनिमय होता रहा। उसी समय एकाएक चारों ओर एक प्रकार की हलचल-सी देख पड़ी। एक स्वयंसेवक ने बतलाया, कोई लड़की डूब रही है। मैंने आव गिना, न ताव। कोई भी हो, किसी की भी लड़की हो, वह डूब रही है, यही कौन कम संकट की बात थी। मैं झट से कपड़े उतार, एकमात्र हाफ़पैन्ट बदन पर रख यमुना में कूद पड़ा। आगे प्रवाह बहुत तीव्र था। और भी दो युवक पहले कूद चुके थे, परन्तु वे बहुत शिथिल गति से अग्रसर हो रहे थे। मैं आगे बढ़ गया था। अनेक बार तैराकी-रेस में पुरस्कार पा चुका था। लड़की बही जा रही थी। कभी-कभी उसे एक-आध डुबकी लग जाती और फिर वह ऊपर आ जाती थी। लड़की यदि तैरना न जानती होती, तब तो डूब ही गई होती। परन्तु वह तो ऊपर आने पर हाथ-पैर मारने लगती थी।

"निकट पहुँचना था कि मैंने तट की ओर को एक ज़ोर का धक्का जो दिया, तो ऐसा प्रतीत हुआ कि उसको एक बहुत बड़ी सहायता मिल गई हो। उस समय मेरा कोई सहायक भी साथ में न था। साथ के तैराक पीछे पड़ गये थे। लड़की तट की ओर थोड़ा घूम गई थी। अब मैंने धक्कों के द्वारा ही उसे तट की ओर बढ़ाना प्रारम्भ कर दिया था। परन्तु प्रवाह इतना तीव्र था कि जितना ही मैं उसे धक्का देकर तट की ओर बढ़ा पाता था.लड़की प्रवाह में उतना ही आगे बढ़ जाती थी। संयोग से उसी समय सहायता के लिये नाव पहुँच गई। फिर क्या था, मैंने एक हाथ से नाव पकड़ ली, दूसरे से लड़की की कुंतल-राशि। नाव पर से एक स्वयंसेवक भी उसी समय कूद पड़ा। उसने कहा—"आप नाव पर चले जाइये। तब तक मैं इसको रोकता हूँ।" मैं नाव पर आ गया। स्वयंसेवक ने सहारा देकर लड़की का हाथ मेरी ओर बढ़ा दिया। नाव लंगर डालकर कुछ स्थिर कर दी गई थी। सावधानी के साथ उस लड़की को मैंने नाव पर ले लिया। एक बार उसे ध्यान से देखा,तो अपनी आँखों के ज्ञान पर विश्वास न हुआ। और ग़ौर से देखा, तो उसे शशि पाया। तुरन्त मैंने उसके अर्धनग्न अंगों को उसकी साड़ी से ढक दिया। अब मैंने तट पर उसकी नाड़ी की गति देखते हुए ददुआ और भाभी की ओर दृष्टि डाली। नाड़ी में अभी गति थी। उधर ददुआ और भाभी दोनों रो रहे थे। भैया उन्हें समझा रहे थे। वह कह रहे थे--"घबराने की बात नहीं। इन्द्र उसे पा गया है। वह देखो, वह नाव पर उसे लिये आ रहा है।"

"लंगर खींच लिया गया था, और मल्लाह लोग नाव को तट की ओर लिये जा रहे थे। मैं सोचने लगा, ज़रा संयोग तो देखो! जो शशि मुझसे बात करती हुई झिझकती और शरमाती थी, आज मेरे ही द्वारा उसका इस प्रकार उद्धार हो रहा है! किन्तु उसी क्षण मैंने नाव पर ही शशि को पेट के बल लिटाकर, उसके दोनों कन्धों को स्वयंसेवकों के बाहुओं पर अवस्थित कर उसके दोनों पैरों को ऊपर की ओर उठा दिया।

पेट ज़रा ऊपर की ओर हुआ ही था कि उसके भीतर का पानी 'अ-ल-ल-ल' करता हुआ, मुंह से, धारा के रूप में, गिरने लगा। यहाँ तक कि नाव जब तक तट पर आवे-आवे, तब तक पेट का सारा पानी गिर गया!"

"तट पर पहुँचने पर पेट की पीड़ा के कारण शशि कराहने लगी। अब उसमें चेतना आ रही थी। हम लोग तुरन्त ताँगे पर बिठाकर उसे घर ले आये। घर आते-आते पीड़ा के साथ-साथ चेतना भी बढ़ती गई। ददुआ डाक्टर को लेने चले गये। थोड़ी देर में डाक्टर महोदय आ गये। आते ही उन्होंने शशि की परीक्षा की। बोले—"घबराने की बात नहीं। पानी भर जाने से पेट की नसें, अँतड़ियाँ और फेफड़ों में ईंचा-खींची उपस्थित हो गई थी, इसी कारण दर्द हो रहा है। सेंक से उसे शीघ्र-से-शीघ्र ठीक दशा में कर दिया जायगा। जो थोड़ा ज्वर हो आया है, वह भी स्वाभाविक है। दो दिन बाद आप इसको बिलकुल चंगे रूप में पायेंगे।"

"डाक्टर साहब ने चिकित्सा का समस्त प्रबन्ध ठीक करा दिया। ददुआ और भैया के सामने उन्होंने यह भी कहा—"अगर इन्द्र ने तुरन्त इसके पेट का पानी न निकाल दिया होता, तो पाँच मिनट के बाद फिर इसके जीवन की कोई आशा न रहती। उन्होंने इसे प्रवाह से निकालकर बहादुरी का कार्य तो किया ही है;परन्तु सच पूछिये तो उसके बाद भी जिस ढङ्ग से उन्होंने इसके पेट का पानी निकालने में तत्परता दिखलाई है, वह भी एक अनुभवी और कर्तव्य-परायण डाक्टर से कम कौशल का काम नहीं है।"

"डाक्टर साहब जिस समय ये बातें कह रहे थे, उस समय शशि की आँखों में आँसू भर आये थे। यह एक बात उस समय और भी विचित्र हो गई। मैंने जो उसको इस दशा में देखा, तो मेरा उर स्पंदित हो उठा। मैं सोचने लगा—यह घटना-क्रम तो देखो। मैंने कभी सोचा तक न था कि इन चार घंटों के भीतर ही मैं अपने को एक नवीन जगत् में पाऊँगा।

"दो-तीन दिन मुझे वहाँ और रहना पड़ा। अब शशि बिलकुल चंगी हो गई थी। भैया वहीं बने रहे। मैं चला आया।

× × ×

चतुर्थी चन्द्रमा अस्त हो रहा था। रजनी का अंधकार मंथर गति से बढ़ रहा था। भैया के निकट बैठा हुआ मैं अपने अगले कार्य-क्रम की उधेड़-बुन में तल्लीन था। इसी समय मुन्नू ने मेरे निकट आकर कहा—"चच्चू, अले ओ चच्चू, तुमें नन्नो बुलाती हैं।"

"मैंने उसे उठाकर गोद में ले लिया। उसकी चुम्मी लेकर उसके सिर के बिखरे बालों को अपनी उँगलियों से सुलझाते हुए मैंने कहा—"तुम बड़े राजा बेटा हो। कल मैं यहाँ से चला जाऊँगा। तुम भी चलोगे न मेरे साथ?"

"उसने नटखट बालक की भांति मुंह मटकाते हुए कहा—"अम बी तलेंगे।"

"चलने के एक दिन पूर्व की बात है। शशि की माता ने, जिन्हें हम लोग 'अम्मा' कहा करते थे, मुझे एकान्त में बुला भेजा। मुझे आदर के साथ बिठाकर उन्होंने कहा—"छोटे बाबू, आज मैं तुमसे कुछ बातें कहना चाहती हूँ। मैं चाहती थी कि मुझे तुमसे उन बातों के कहने की आवश्यकता न पड़ती। परन्तु कुछ संयोग ही ऐसा आ गया है कि कहना पड़ रहा है। मैं उस सम्बन्ध में तुम्हारे भाई साहब से भी राय ले चुकी हूँ। बड़ी बिटिया भी राज़ी है। अब तुम्हारी ही स्वीकृति लेनी बाक़ी है। बात यह है कि अपने ददुआ को तो तुम जानते ही हो, कितने आलसी आदमी हैं। कई वर्ष से हम शशि के लिये वर खोजने में बेतरह परेशान हैं। अनेक बार उनको महीना-पंद्रह दिन तक लगातार इसी काम के लिये भेज चुकी, सम्बन्धियों के द्वारा भी काफ़ी खोज करा चुकी, परन्तु मैं जैसा वर चाहती हूँ, वैसा मिल नहीं रहा है। उनकी तो हिम्मत जैसे पस्त-सी हो गई है। कहते हैं, यह मेरे बस का राग नहीं। अब तुम्हीं बतलाओ छोटे बाबू, मैं तो अबला नारी ठहरी। मैं क्या कर

सकती हूँ ? ये काम स्त्रियों के वश के तो हैं नहीं। कई दिन से इसी विषय में सोचती रही। जब और कोई उपाय न सूझा, तो आज तुम्हारे आगे अपनी इस व्यथा को रखना उचित समझा। स्पष्ट बात यह है कि तुम चाहो तो मेरा उद्धार कर सकते हो।"

"मैंने पहले ही बहुत कुछ समझ लिया था। कई दिन से इसी प्रकार का वातावरण मैं स्वयं भी देख रहा था। परन्तु इस विषय में इतनी शीघ्रता की जायगी, यह मैं नहीं सोच सका था। अब मेरे सामने इस समय मुख्य प्रश्न अपने आत्म-संतोष का था, इसीलिये मैंने उत्तर दिया—"परन्तु मेरा जीवन किस प्रकार का है, इसका तुमको ज़रा भी पता नहीं है अम्मा ! मेरे इस युवक हृदय में एक प्रकार की आग सुलगा करती है। मुझे रात-दिन नींद नहीं आती। मैं सोते-सोते चौंक पड़ता हूँ। देश के काम को छोड़कर और किसी काम में मेरा मन नहीं लगता। मुझे कभी देहात में, कभी शहर में, कभी ट्रेन पर, तो कभी जहाज़ पर, कभी कड़ी धूप में, तो कभी झमाझम वर्षा और शीत में, अर्धरात्रि ही मुंह-अँधेरे,अपनी कर्तव्य-भावना से प्रेरित होकर चल देना पड़ता है। मेरे जीवन का कुछ भी ठीक नहीं। मालूम नहीं, मैं किस दिन जेल में ठूंस दिया जाऊँ। इसका भी कुछ निश्चय नहीं कि मेरी मृत्यु कहाँ हो। संभव है, मुझे जीवन-भर कारागार में ही रहना पड़े। अब तक इसी जीवन में तीन् बार जेल हो आया हूँ। जो आदमी वर्षों अपना जीवन जेल में बिताने का अभ्यासी हो गया हो, संसार में वह कितने दिनों तक हँसता-खेलता रह सकेगा ! घर में अम्मा जब मुझे अधिक तङ्ग करती हैं, और मुझसे सहा नहीं जाता, तब उनसे भी मैं स्पष्ट रूप से कह देता हूँ--"तुम यही समझ लो कि मेरा एक बच्चा मर गया।" अस्तु। मेरे साथ शशि के जीवन की ग्रंथि बाँधने की इच्छा करके तुमने दूरदर्शिता का काम नहीं किया। मैं तुम्हीं से पूछता हूँ अम्मा, शशि मुझे पाकर जीवन की कौन सी सफलता अर्जित कर सकेगी ?"

"मेरे इस कथन का अम्मा ने फिर कोई उत्तर नहीं दिया। एक ठंडी साँस लेकर उन्होंने केवल इतना कहा--"जैसी तुम्हारी इच्छा!"

"उस समय मैंने अपने आप पर कैसी विजय पायी, तिवारीजी सच जानो, उससे मैं कितना सुखी हुआ, कह नहीं सकता।

"दिन बीतते गये। मैं फिर जेल चला गया। अब की बार मैं 'बी'-क्लास में रक्खा गया था। किसी प्रकार का कष्ट मुझे न था। उसी जेल-जीवन में भैया, भाभी और शशि को लेकर एक बार मुझे देखने भी आ रे थे। भैया और भाभी के चरणों की रज अपने मस्तक पर जब मैं लगा चुका, तो भैया की आँखों में आँसू भर आये। भरे हुए कंठ से वे बोले—"कैसे हो इन्द्र ?"

"मैंने कहा—"अच्छा हूँ। किसी प्रकार का कष्ट नहीं है।"

"अपने को कुछ स्थिर करके वह बोले—"शशि तुमसे कुछ बातें करना चाहती है। इस बार इसीलिये उसे साथ ले आया हूँ। हम लोग उस ओर बैठ जाते हैं।"

"मैंने जवाब दिया—भैया, I am very sorry to say that .....(मुझे बहुत दुख के साथ कहना पड़ता है कि ....) मैं अभी इतना ही कह पाया कि उन्होंने कहा—But I wish that you must have a talk with her. (लेकिन मैं चाहता हूँ कि तुम उससे अवश्य बात कर लो।)

"मैं अब विवश हो गया।

"मैं तब एक ओर अलग आ गया। शशि मेरे निकट आ गई। एक मार्मिक पीड़ा से उसका शरीरभर जैसे पीत वर्ण का हो गया था। आते ही उसने कहा—"मैंने बहुत दूर तक सोच लिया है। मैं आपके गले का फंदा नहीं बनना चाहती। मैं तो आपके प्रेम की भिक्षा-मात्र चाहती हूँ। मेरी यह आन्तरिक कामना है कि आपके जीवन-पथ के कंटकों को भस्मसात् करती हुई उसे प्रशस्त बनाने में ही अपने को उत्सर्ग कर दूँ।"

"मैं सोचने लगा--"नारी माया का प्रत्यक्ष रूप है। विवश होकर जो बातें की जा रही हैं, जब उन्हीं में इतनी शक्ति है कि मेरे अन्तराल में कोलाहल मचा दें, तब सजीव स्नेह का उद्रेक होने पर मेरी स्थिति क्या होगी! मैंने कहा--"तो इसके लिये विवाह करने की क्या आवश्यकता है? मैं जिस ओर जा रहा हूँ, उसी ओर चल दो न? भिक्षा मेरे प्रेम की नहीं, राष्ट्रीय जागरण के उन आदर्शों की लो, जिन पर इस देश के स्वर्ण-युग का निर्माण हो सके। दैहिक मिलन के कीटाणु तुम्हारे शरीर में कुलबुला रहे हों, तो पहले ऐसा एक हलाहल पी लो, जिससे उनका अस्तित्व तक न रह जाय। तब तुमको मेरे निकट, मुझसे भेंट करने के लिए, आने की आवश्यकता न होगी, जेल की एकांत कोठरी में बैठी हुई अपने आप ही तुम मुझे अपने निकट पाओगी।"

"आपकी इस इच्छा का मैं अक्षरशः पालन करूँगी।" कहकर प्रणाम करती हुई वह उसी क्षण मुझसे पृथक् हो गयी।

"उसका मुख एक तेजोमयी आभा से दमक उठा था। अंतरात्मा के अदम्य उल्लास का आलोक उसकी आँखों में ज्योतिर्मय हो उठा था।

"बस ये ही, दो-चार क्षण मेरे जीवन में सुख के थे।

और दुःख के?

* * *

"पन्ने उलट रहा हूँ।

"शशि मुझसे मिलकर कितनी उत्साहित होकर गई थी! मैंने सोचा था, जब मैं इस बार जेल से छूटूँगा, तो सुनूंगा--"शशि पर राजद्रोह का अभियोग चल रहा है, अथवा यह कि वह असुक जेल में है।" परन्तु जब मैं घर पहुँचा, तो सुना यह कि शशि का विवाह हो गया है। कलेजे में जैसे पत्थर अड़ गया हो। अपने को बहुत समझाया, परन्तु किसी भी प्रकार आत्मा को शांति न मिलती थी। ऐसा जान पड़ता था, जैसे अपना सब कुछ खो गया है। दिल बैठ गया था। कभी-कभी जी में आता

था, अपने को क्या कर डालूँ ! इस शशि का मैंने कितना विश्वास किया था। मैं नहीं जानता था कि उसकी यह रूपरेखा कृत्रिम है।

"भाभी उन दिनों अपने पिता के यहाँ थीं। शशि का गौना होने जा रहा था। भैया ने बम्बई से लिखा—"इन्द्र, मेरा आना तो हो न सकेगा, तुम्हीं चले जाना। वापसी में सब को लिये आना।"

"एक प्रबल इच्छा लेकर मैं आगरे गया था। जी में आता था, एक बार शशि से बातें तो करूँगा ही। अधिक-से-अधिक यही न होगा, वह मुझसे सैद्धांतिक मतभेद का सहारा लेकर लड़ पड़ेगी! उँह, देखा जायगा।

"परन्तु हुआ इसका उल्टा। शशि से दूर-ही-दूर बना रहा। बिदा होते समय भी मैं मौक़ा टाल गया, उससे मिल न सका।

"शशि के पति पुलिस सुपरिंटेंडेंट होने जा रहे थे। जब मुझे यह मालूम हुआ, तो मेरे बदन में सहस्र बिच्छुओं के दंश की-सी जलन हो उठी। कोई मेरे कानों में कहने लगा—"यह सब मुझे अपमानित करने के लिये किया जा रहा है।

"घर लौटे हुए अभी तीन ही दिन हुए थे कि एकाएक भैया के पास ददुआ का एक तार पहुँचा। उसमें लिखा था—Shashi committed suicide with a revolver. (शशि ने रिवाल्वर से आत्मघात कर लिया।)

"और उसी दिन मुझे शशि का एक पत्र मिला। वह इस प्रकार था—

मेरे प्रभु,

मैं तुम्हें पा न सकी। तुम इतने आगे बढ़ गये कि तुम्हारी धूलि भी मुझे नहीं मिल सकी। चर्ममात्र पहनकर मैं सिंहनी कैसे बनती, आत्मा में वैसा तेज और बल भी तो होना आवश्यक था। हाँ, तुम मुझे वैसा बनाते, तो मैं बन अवश्य जाती। इसके लिये तुम्हें कुछ त्याग करना पड़ता, परन्तु तुम उसके लिये तैयार न थे। एक समय ऐसा आयेगा, जब तुम अपनी यह ग़लती महसूस करोगे।

तुमने सुना ही नहीं, अपनी आँखों से देख भी लिया कि मैं दूसरे की हो गई। परन्तु मैं उनके साथ छल न कर सकी; क्योंकि वास्तव में मैं तुम्हारी हो चुकी थी। एक बार तुमने मृत्यु की अगाध निद्रा से उठाकर मुझे जीवन दिया था, परन्तु दूसरी बार मेरे उसी जीवन को—जो, तुम हृदय रखते तो जानते कि एकमात्र तुम्हारे ही प्रेम पर अवलम्बित था—तुमने ठुकरा दिया। ऐसा करना था, तो उस दिन मुझे बचाया ही क्यों था प्यारे!

संभव है, मुझी से भूल हो गई हो, और मैंने ही अपनी परिवर्तन-शीलता से तुम्हारे हृदय में प्रेम की अपेक्षा घृणा के भाव जाग्रत कर दिये हों। जो हो, अपने इस पतन की पीड़ा मैं सह न सकी। इसीलिये जिससे तुम मुझे समझ सको, मुझे न अपनाने का पश्चात्ताप एक क्षण-भर के लिये भी हृदय में ला सको, मैं अपने इस जीवन की इति किये डालती हूँ।

तुम्हारी ही—शशि

"बस, तब से मैं बराबर यही सोचता हूँ कि मैंने ही उसे खो दिया है।

"और साथ ही तब से मुझे ऐसा जान पड़ता है कि मैंने अपने को भी खो दिया है।

* * *

"रात-भर यही सब सोचता रह गया।

"सबेरा हुआ, चिड़ियाँ चहकने लगी। मैंने सोचा, कल भी सबेरा होगा, और कल भी चिड़ियाँ इसी प्रकार चहकेंगी। परन्तु तब उनका यह चहकना मैं न सुन सकूँगा। मैंने अपने दिल पर पत्थर रख लिया। यह तय कर लिया कि जो कुछ भी होगा, उसे इन्हीं आँखों से देखूँगा।—देखूंगा कि कैसे मकान पर बोली बोली जाती है, कैसे वह अपने हाथ से चला जाता है। आख़िर दुनिया में और भी तो ऐसे बहुतेरे आदमी हैं, जिन पर आये दिनों इसी तरह की—बल्कि इससे भी अधिक—मुसीबतें आया करती हैं। मुट्ठी-भर अन्न के लिए माता अपनी जवान

लड़की बेच डालती है! भूख की ज्वाला से झुलस-झुलस कर जवान लड़कियाँ छटाक-भर चावल के लिए अपना कौमार्य लुटा देती हैं। बाप अपने बच्चे के मुंह से रोटी का टुकड़ा छीनने के लिए उसका गला घोंट देता है। हमारे ही देश में उत्पन्न अन्न हमारे काम नहीं आता और दुर्भिक्ष पीड़ित होकर लक्ष-लक्ष जन दाने-दाने के लिए तरस-तरसकर मृत्यु के मुंह में समा जाते हैं। हमारे इस पराधीन देश में सम्भव क्या नहीं है? फिर मेरे लिये इतना अधीर होने की क्या आवश्यकता है!

"इस प्रकार मैं अपने जो को समझाने की भरपूर चेष्टा करता था, परन्तु फिर भी एक अदमनीय ग्लानि का भाव मेरे जी से जाता न था।

"ग्यारह बजने का समय था। मैं इस मकान के इसी कमरे में बैठा हुआ नीचे का दृश्य देख रहा था।' पुलिस के दो तीन कांस्टेबिलों को लेकर 'बेलिफ़' महाशय आ गये थे। ताँशे का स्वर मेरे कानों से होकर हृदय की तह तक पहुँच रहा था। शहर के और भी दस-बारह ख़रीदार दिखाई पड़ने लगे थे। मेरे दिल की धड़कन बढ़ रही थी। मैंने देखा, लोग इधर-उधर गुट्ट बनाकर कुछ परामर्श करने लगे हैं। जान पड़ा, बस, अब कार्रवाई प्रारम्भ ही होनेवाली है। एक बार अपने संकल्प की भीषणता की कल्पना करके मैं काँप उठा। सोचने लगा--"अरे, एक बात तो रह ही गई। मैं क्यों आत्मघात कर रहा हूँ, इसका कारण तो एक पत्र में लिखकर यहाँ रख दूँ। कहीं ऐसा न हो कि मेरी इस भूल के कारण और लोग परेशानी में पड़ें।

"मैं वह पत्र लिखने लगा।

"दो ही पंक्तियाँ मैं अभी लिख पाया था कि एक स्वप्न-सा देखने लगा। ऐसा मालूम हुआ कि किसी कारण-वश दरवाज़े पर सन्नाटा छा गया है। सोचा, उँह कोई बड़ा आदमी आ गया होगा। पत्र लिखकर मैंने जो खिड़की से नीचे की ओर देखा, तो आँखों पर एक पर्दा-सा पड़ गया।— ऐं! यह हो क्या गया! क्या सारी कार्रवाई समाप्त हो गई! और इतनी जल्दी!! पर नीलाम की बोली तो सुनाई ही नहीं पड़ी!

"मैं जो नीचे उतरा, तो देखा, एक बुड्ढा आदमी उधर से जा रहा है। मुंह पोपला हो गया है, बाल सन् की तरह। पान की लाली ओठों की परिधि लाँघकर सफ़ेद मूछों तक जा पहुँची है। प्रसन्नता से जैसे दीवाना होकर मुझसे कहने लगा—"छोटे बाबू, तक़दीर का खेल इसी को कहते हैं। मकान आख़िर बच गया न! हँ-हँ! माया ने पाँच हज़ार का एक चेक देकर उस महाजन के मुंह पर कालिख पोत दी। हँ-हँ! छोटे बाबू, आज जी में आता है, सत्यनारायण की कथा कहा डालूं। दो-चार रुपये ख़र्च ही हो जायँगे न! मालिक, मैंने तुम्हारा बहुत नमक खाया है। इस शरीर की हड्डियों में वही अब तक डटा हुआ है।

"और तिवारीजी, माया मुझसे मिली तक नहीं! उस दिन के बाद फिर आज तक नहीं!

इसी समय इन्द्र को खाँसी आ गई। साथ ही ख़ून के कुछ गाढ़े-गाढ़े क़तरे कोच के नीचे फ़र्श पर आ पड़े!

रजनी

[१]

कभी-कभी रजनी अपने स्वामी प्रकाश से झूठ भी बोल जाती थी; पर प्रकाश नहीं जान पाता था कि वह मुझसे झूठ बोल रही है। रजनी दिन-पर-दिन क्षीणकाय हो रही थी। प्रकाश जब तब कह देता—"आज-कल तुम बहुत दुर्बल होती जाती हो। जान पड़ता है, अब तुम धोखा देने वाली हो।"

रजनी उत्तर में कहती—"ऐसी भाग्यशालिनी मैं नहीं हूँ।"

प्रकाश ने अपने हृदय को इतना दृढ़ बना लिया था कि वह उपर्युक्त बात चट से कह जाता था। न उसकी आँखें सजल होतीं, न कण्ठ ही भर आता। लेकिन इतने पर भी वह अपने हृदय के हाहाकार को भला कैसे छिपाता ? उसके इस कथन के भीतर आन्तरिक पीड़ा का जो स्वर फूट पड़ता, रजनी उससे अपरिचित न रहती। इसीलिये वह अपनी गति पर अस्थिर हो उठती। दस-पाँच दिनों तक फिर वह अपने आपको प्रकाश के भीतर डुबाकर रखती। प्रकाश उत्साह की नवीन हिलोरों में फिर प्रवाहित हो उठता। पुरानी बातें फिर अतीत के अगाध में समा जातीं। वह कभी कुछ सोचता भी, तो बस इतना कि उन बातों का

स्मरण ही क्यों किया जाय, जिनके कारण भरे हुए घाव हरे हो आते हैं।

पर रजनी की स्थिति दूसरी थी। उसकी सुख-निद्रा क्षणिक होती थी। गृहस्थी की देख-रेख में ही हँसती-फुदकती तथा गुनगुनाती हुई वह सारा दिनबिता देती। प्रकाश समझ लेता--"चलो यह अच्छा हुआ। अब रजनी प्रसन्न तो रहती है।

किन्तु रजनी जब कभी एकान्त पाती, तो छिपकर चुपके से जी भर रो लेती थी।

रजनी ने प्रकाश को अन्धकार में रख छोड़ा था।

[२]

रजनी के एक ही पुत्र हुआ था। वह फूल-सा सुन्दर था। जैसे चिड़िया हो। मिट्टी के खिलौने, काँच और चीनी के बर्तन तोड़ते उसे देर न लगती। चञ्चल इतना कि जब तक सो न जाता, तब तक रजनी उसको सँभालने और दुलराने ही में लगी रहती।

प्रकाश अपनी दिनचर्या में लीन रहता। अपने लाल को खिलाने का उसे कम ही अवसर मिलता था। किन्तु क्या उसको वह कम प्यारा था? नहीं भाई, काम-काज में लगे रहने पर भी उसके प्राण अपने लाल की स्मृति में लीन रहते थे। छुट्टी पाकर वह तुरन्त उसे गोद में लेकर दुलराता, खिलाता और बाहर सड़क पर अथवा मित्रों के यहाँ घुमा लाता।

रजनी प्रायः कहती--"यह सब बनावटी प्रेम है। क्या तुम्हें इतनी भी छुट्टी नहीं मिलती कि घड़ी-दो-घड़ी को बीच में आ सको?"

जो लोग एक श्रमजीवी का जीवन व्यतीत करते हैं, उनकी स्थिति सदा ऐसी ही दयनीत रहती है। अन्य लोगों के लिए जीवन एक क्रीड़ा-क्षेत्र होता है। सबेरे उठते-उठते वे प्रभातकालीन क्षितिज की लाली देखकर एक सौंदर्य-भावना में डूब जाते हैं। शीतल पवन के झकोरे, क्षितिज का मनोमोहक रूप और दिनमणि का भोला प्रकाश उनके नवीन उत्साह का कारण हो जाता है। असामयिक श्यामघन-माला

देखकर वे मित्रों के साथ नये-नये ढंगों और प्रकारों से बैठते-उठते, घूमते और नाना केलि-क्रीड़ाओं में निमग्न होकर आनन्द लूटते हैं। जब शीत अधिक पड़ता है और रात में चन्द्रिका छिटकती है, तब वे घर से बाहर, फिर बाहर से घर, सजे-बजे आते-जाते जीवन और जगत का कौन-सा खेल नहीं खेलते! नये-नये प्रेमियों और नयी-नयी प्रमदाओं से मिलते, उनके साथ अठिलाते और आमोद-प्रमोद में दिन-रात प्रकृति-छटा और जीवन-रस के ही खेल-खेलते हुए वे जड़से लेकर चेतन ही नहीं, आत्मा-परमात्मा तक के रहस्यों पर विवाद करके मन-ही-मन कृतार्थ हो जाते हैं। उन्हें पता तक नहीं चल पाता कि इसी जगत, इसी देश और नगर में एक ऐसा भी समाज रहता है, जिसको उदर-पोषण के लिए नित्य इतना समय और श्रम देना पड़ता है कि वह अनुभव ही नहीं कर पाता, प्यार कैसे किया जाता है। मनुष्य के जीवन में अवकाश की घड़ियाँ भी अपना कुछ मूल्य रखती हैं!—इष्ट-मित्रों के बीच घूम-फिर कर भी मोहों, आकर्षणों और सौंदर्य्य-पिपासाओं की शान्ति होती है।

प्रकाश रजनी को कैसे समझाता कि आजकल का जीवन कितना महँगा हो रहा है और कैसे वह निर्वाह-भर के लिये पैसा जुटा पाता है! रजनी को संसार की इस अवस्था का परिचय न था। होता भी, तो उतने से क्या हो सकता था। जीवन-संग्राम से अलग रहनेवाला व्यक्ति उसकी वस्तु स्थिति का अनुभव कैसे कर सकता है! अतएव विवश होकर प्रकाश प्रतिज्ञा कर बैठता कि अब मैं समय निकालकर अवश्य आ जाया करूँगा। पर जीवन के संघर्ष और उसके बिस्तृत कार्य-क्षेत्र में पहुँचकर उसमें लीन होते-होते अपनी इस प्रतिज्ञा का उसे स्मरण ही न रहता था!

इसी प्रकार दिन चल रहे थे।

एक दिन काले-काले बादल घिर आये। समीर की प्यार-भरी झड़कियों ने उन्हें इतने झुलाया, इतना हँसाया-गुदगुदाया कि कि वे बरस पड़े। आश्विन मास के धूप-भरे दिन गीला हेमन्त बन गये।

और इन्हीं दिनों रजनी का वह फूल-सा शिशु टायफायड फ़ीवर से चलता बना! इस घटना का रजनी के मन पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उसका जीवन निर्जीव-सा हो गया।

[३]

संसार अपनी गति से चला जा रहा था और मानवप्रकृति अपने खेल खेल रही थी। कुछ ही महीनों बाद रजनी फिर सन्तान की आशा से उत्फुल्ल हो उठी। निश्चित अवधि के अनन्तर उसके पुनः पुत्र उत्पन्न हुआ। प्रकाश मारे प्रसन्नता के फूला न समाया।

रजनी का यह पुत्र भी कम सुन्दर न था। जब वह किलकारियाँ मारकर हँसता, तो रजनी का रोम-रोम पुलकित हो जाता। दिन बीतते गये और व्यथा की अतीत स्मृतियाँ हौले-हौले धुँधली होती गईं।

ऋतुराज बसन्त का शुभागमन हुआ। मलय-मारुत मंद-मंद बहने लगा। लोनी-लोनी लतिकाएँ लहराने लगीं। आम्रमंजरियाँ अपना सौरभ फैलाने लगीं। उपबनों, वृक्षों और अट्टालिकाओं पर कोयल पंचम स्वर में गा-गाकर इतराने लगी।

पर प्रकाश अपने इस लाल को खिलाता न था। एक तो उसे समय ही न मिलता, दूसरे उसे सदा इस बात का भय बना रहता कि कहीं मेरी मोह-दृष्टि उसके लिये अकल्याणकार न हो जाय।

एक दिन रजनी ने पूछा—"इस बच्चे के लिये तुम्हारे हृदय में ज़रा भी मोह नहीं है?"

प्रकाश बोला—"तुम ठीक कहती हो, रजनी। सोचता हूँ. जिसको अपने प्राण से भी अधिक प्यार करता था, वही जब चलता बना, तो अब इसको प्यार करके-क्या इसको भी......?"

प्रकाश इसके आगे वह अशुभ बात पूरी न कर सका।

रजनी का कलेजा दहल गया। एक संदेह उसके हृदय में हथौड़े की सी चोट पहुँचाने लगा। दिन-चर्या में लीन रहने के क्षण भी प्रायः

उसके आशंकालु अन्तराल में पैठकर कोई कहने लगा—"कहीं ऐसा न हो कि यह भी चल बसे !"

रजनी का वह बालशिशु अपनी चंचल लीलाओं से उसे निरन्तर आनन्दविभोर बनाये रहता था। सब कुछ पूर्ववत् था। किन्तु कभी-कभी उसका संशयालु मानस एक अनिष्ट की कल्पना से काँप ही उठता था।

दिन चल रहे थे। दिनों के साथ मनुष्य का मन भी चल रहा था। रातें चल रही थीं। और उन रातों के साथ इस दम्पति के जीवन में छाया अन्धकार भी गहरा होता चला जाता था। मेघ-गर्जन के अवसरों पर बिजली जैसे कड़ककर, कौंधकर, गगन-भेदी भीषण नाद के साथ गिर कर पृथ्वी में समा जाती है और कालक्रम से फिर उसकी स्मृति ही शेष रह जाती है; विशेष से शेष, फिर शेष से भी अशेष और शून्य। ऐसे ही इस दम्पति की स्मृति में अब केवल उस दुर्घटना की बिजली-मात्र कौंध उठती थी।

सरदी के दिन चल रहे थे। एक दिन पानी बरस गया और दूसरे दिन रजनी का वह शिशु भी अकस्मात् ज्वराक्रान्त हो उठा। दो दिन तक उसका ज्वर न उतरा। दूध पीना तो दूर रहा, चेतना की सजग चेष्टा से उसने आँखें तक न उठाईं।

प्रकाश उन दिनों एक समाचार-पत्र में सहकारी सम्पादक था। कभी दिन में उसे अनुवाद, टिप्पणी और प्रूफ़ पढ़ने का काम करना पड़ता, कभी रात में। पत्र का आकार जितना बड़ा था, उसको देखते हुए सहकारी सम्पादक कुछ कम थे। अन्य साथीबन्धु जब कारणवश अनुपस्थित हो जाते, तो उसे उनका काम भी पूरा करना पड़ता। इस तरह सब मिलाकर उसे बारह-बारह घंटे एक साथ काम में जुटा रहना पड़ता। वेतन में उसे केवल पचास रुपये मिलते। प्रकाश सोचता, जनता की सेवा का काम है। ऐसी परिस्थिति में मुझे यह काम छोड़ना न चाहिये। यदि एक सुखी और सम्पन्न व्यक्ति का-सा जीवन बिताना मेरा उद्देश्य होता, तो मैं इस क्षेत्र में आता ही क्यों? इसीलिये प्रायः

पैसा उसके पास रहता न था। उसकी पोशाक अत्यन्त साधारण थी। परन्तु इस ओर उसका ध्यान ही जाता। उसे भोजन भी साधारण मिलता, परन्तु तो भी वह अनुभव ही न करता कि अधिक पुष्टिकारक भोज्न उसे मिलना चाहिये। जब ख़र्च पूरा न पड़ता, तो उसे मित्रों से रुपया उधार लेना पड़ता। फिर जब कभी उसे वेतन मिलता, तब वह उन मित्रों का ऋण चुका देता। इसी तरह इस दम्पति का जीवन लुढ़कता और घसिटता हुआ चल रहा था।

पिछले पाँच वर्षों में संसार में इतना उलट-फेर हो गया, जितना कहते हैं, मानवसभ्यता के इतिहास में कभी नहीं हुआ। प्रकाश पर भी उसका प्रभाव पड़े बिना न रह सका। जिस गति से महँगाई बढ़ती गई; वेतन में उस गति से वृद्धि न हो सकी। पहले इतना ही होता था कि पैसे बच रहे तो दूध आ गया। नहीं तो रोटी-दाल तो मिलती जाती थी। दोनों वक़्त साग न सही, तो एक वक़्त तो मिल ही जाता था। उस समय नित्य न सही, तो सप्ताह में दो बार कपड़े बदलने का अवसर तो वह पा ही जाता था। अब दोनों स्थितियों में महान अन्तर उपस्थित हो गया था।

[४]

कई बार रजनी कह चुकी थी—"मुन्नू के लिये गरम कोट बनना चाहिये !"

जब-जब उसने यह प्रस्ताव किया तब-तब प्रकाश ने यही उत्तर दिया—"बनना अवश्य चाहिये। पर रुपया बचे तब तो बनवाऊँ। खाना चलता नहीं है, कपड़े कैसे बनवाऊँ !

उत्तर पाकर रजनी चुप रह जाती थी। पर एक दिन जब उससे नहीं रहा गया, तो उसने डबडबाई हुई आँखों और भरे हुए कण्ठ से कह दिया—"अगर तुम इस बच्चे को गरम कोट नहीं बनवा सकते, तो दो-एक घंटे के लिये मुझको मर जाने की अनुमति तो दे ही सकते हो! नरक में जाकर मैं फिर स्वर्ग में लौट आ सकती हूँ!"

कुछ दिन पहले की बात है। एक बार प्रकाश रात को दो बजे लौटा, तो उसने देखा, रजनी कुछ उदास है। बोला--"बड़ी सरदी है। ज़रा आग जला देना।"

रजनी ने कोई उत्तर नहीं दिया। कोयला चुक गया था और पैसा पास न था।

कपड़े उतारते हुए प्रकाश ने दूसरा प्रश्न किया—"खाना ले आओ। आज बड़ी देर हो गई। रामेश्वर छुट्टी पर चला गया, इसलिये उसका काम भी मुझी को निबटाना पड़ा।"

रजनी ने उत्तर तो कुछ नहीं दिया, पर वह खाना परोस लाई। थाल सामने देखकर प्रकाश ने पूछा—"साग नहीं बनाया ?"

रजनी बोली—"साग की क्या ज़रूरत है ? नमक तो रख ही दिया है। साग ही खाना होता, तो क्या तुम हिन्दी के पत्रकार बनते ? जनता की सेवा का व्रत ले रखने पर खाने-पहनने में न सुरुचि की आवश्यकता रह जाती है, न आवश्यकता-पूर्ति और जीवन-निर्वाह की !"

प्रकाश चुप रहा गया। वह सोचने लगा—"सचमुच पैसा तो था नहीं, यह सबेरे चलते समय मैं जान ही चुका था। फिर मैंने बेकार ऐसा प्रश्न किया।" तब चुपचाप उसने चार फुलके किसी तरह उदरस्थ कर लिये और गिलास-भर पानी गले से उतार लिया। जब उसने चारपाई पर क़दम रक्खा, तो वह सोचने लगा—"अब तक रजनी ने कभी मेरा मज़ाक़ नहीं उड़ाया था। विशेष रूप से मेरे सिद्धान्तों को लेकर। किन्तु......।" इसके बाद गले में जैसे कौर अटक जाय, और पानी के अभाव में दम-सा घुटने लगे, बस उसकी स्थिति इसी से मिलती-जुलती हो उठी। 'किन्तु' जैसा छोटा शब्द उसके गले का कौर बन गया था। वह आगे सोचना नहीं चाहता था। धीरे-धीरे उसे इसी प्रकार के और भी कुछ अवसर याद आ गये—कुछ और बातें स्मरण हो आयीं !

उसके यहाँ एक बार प्रेस के स्वामी की लड़की आयी थी। हाल ही में उसका विवाह हुआ था। बहुत सुन्दर साड़ी वह पहने हुई थी। जब वह चली गई तो प्रकाश ने मुसकराते हुए पूछा—"क्या राय है?"

लड़की का नाम था रेणुका और उसके पति गवर्नमेंट-प्लीडर थे।

रजनी ने उत्तर दिया था—"कोई राय नहीं है। जब हवा खाकर, गंगाजल पीकर और वृक्षों की छाल और पत्तियाँ बदन पर लपेटकर निर्वाह हो सकता है, तो तितलियों की जाति की छान-बीन किये बिना भी काम चल सकता है।"

प्रकाश रजनी का यह उत्तर सुनकर सन्न रह गया था। फिर घंटे-भर बाद स्वतः रजनी ने बतलाया था—"चलते समय मुन्नू को दो रुपये का का नोट दे रही थीं। मैंने यह कहकर उसे वापस कर दिया कि इसे लेते जाइये, अपने बाबू जी को दे दीजियेगा। साथ ही मेरा नाम लेकर कह दीजियेगा, रजनी कहती थी—"किसी पत्रकार के वेतन की पूर्ति में काम दे जायगा।"

इस पर रेणुका अप्रतिभ हो उठी थी। भृकुटियाँ चढ़ाकर और होंठ काटते हुए उसने उत्तर दिया था—"अगर मैं ऐसा जानती कि आप इस क़दर बद्तमीज़ हैं, तो मैं आप से मिलने कभी न आती।"

और रजनी का उत्तर था—"मैं क्या जानूँ, शिष्टता क्या वस्तु है! इतना ही जान लेना कौन कम है कि अपनी उदारता का यह उपहार देकर आप शोषकवर्ग के दोषों की गुरुता कुछ कम कर देना चाहती हैं।"

रेणुका के साथ रजनी के इस व्यवहार का प्रकाश पर यह प्रभाव पड़ा कि वह उससे तीन दिन तक तबियत से बोला नहीं। वह इस तरह की असहिष्णुता को असभ्यता समझता है। वह सोचता है—बेचारी रेणुका का तो कोईदोष है नहीं; फिर उसकी उदार-वृत्ति का अपमान उसने क्यों किया? और दो दिन बाद रजनी ने स्वयं स्वीकार किया था—"मुझे उसकी बात ज़रा भी बुरी नहीं लगी। सत्य के प्रयोगों की चिनगारियाँ बेईमानी और मक्कारी से भरी पुष्प-वर्षा से कहीं अधिक सुखद होती हैं।"

अब प्रकाश को स्मरण आया कि चाहे इस घटना का ही प्रभाव हो, अथवा कोई और बात, प्रेस के सम्पूर्ण कर्मचारियों और कार्य-कर्ताओं को उसी दिन सायंकाल पिछला बक़ाया चुकता कर दिया गया था।

प्रकाश इन घटनाओं पर बारम्बार विचार कर रहा था। उसका कहना था कि यह तो ठीक है कि मनुष्य को अपने अधिकारों के लिये लड़ना चाहिये। पर उस लड़ाई को हिंसात्मक बनाने का अधिकार उसको नहीं है। क्योंकि यह भी तो हो सकता है कि प्रयत्न करने पर भी हमको सफलता न मिले। सब कुछ होकर भी मनुष्य है तो परमात्मा की इस सृष्टि और उसकी वैधानिक सत्ता के अनुशासन में ही। अतएव प्रयत्न करने पर भी यदि हम दरिद्र ही बने रहते हैं तो यह विधाता का विधान नहीं तो और क्या है? किन्तु रजनी का उत्तर था—"ईश्वर होता तो अपने सुपूतों का इतना अन्याय देखकर उसकी आँखें फूट जातीं।"

रजनी के इन भाव-परिवर्तनों और विचारों से टकराकर प्रकाश एकदम से अस्तव्यस्त हो जाता था।

[५]

जैसे-तैसे रात आई। प्रकाश मुन्नू को गोद में लेकर बैठ गया। सारी रात वह उसको गोद में लिये बैठा रहा। रजनी कई रात की जगी हुई थी। दुर्बल इतनी कि अधिक देर तक बैठ भी न सकती थी। उधर इतना भी पैसा प्रकाश के पास न था कि वह डाक्टर को लाकर दिखलाता और उसकी दवा कराता। मुहल्ले में एक परिचित वैद्य रहते थे। वे आकर देख गये थे। पर उनका भी कहना यही था—"रक्षा वही करेगा। मैं तो एक निमित्त हूँ।"

अन्त में हुआ वही, जिसकी रजनी को आशंका थी। सूर्योदय होने से पहले मुन्नू का प्राण-पखेरू उड़ गया।

पर इस बार रजनी बिल्कुल नहीं रोई। प्रकाश हैरान था कि यह बात क्या है! इधर रजनी के स्वभाव में भी एक विचित्र परिवर्तन हो गया था। गृहस्थी का काम वह बराबर विधिवत् करती जाती, पर प्रकाश

से बात करना उसको स्वीकार न होता ! हाँ, प्रकाश ही कोई बात पूछता तो उत्तर वह अवश्य दे देती थी। प्रकाश ने एक-आध बार उसे शोकार्त जानकर कुछ समझाना भी चाहा, पर रजनी ने सत्य-कृष्ण कुछ कहना उचित नहीं समझा।

एक दिन जब प्रकाश प्रेस से लौटा, तो उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि रजनी का छोटा भाई दिनेशकुमार उसे लेने आ पहुँचा है। प्रकाश पहले तो उसको इस अवस्था में भेजने को सहमत न हुआ, पर जब दिनेश ने विशेष आग्रह किया, तो वह विवश हो गया। उसे यह जानकर विशेष दुःख हुआ कि रजनी ने इस बात का विचार न किया कि वह मुझसे अनुमति लिये बिना मुझे अकेला छोड़कर मैके चली जा रही है।

चलते समय वह केवल एक बात कह गयी थी--"अब मेरा भरोसा न कीजियेगा। यही समझ लीजियेगा, रजनी भी मुन्नू के साथ चली गई !"

सुनकर प्रकाश अधीर हो उठा था। उसने बहुत चाहा कि वह रजनी को जाने से रोक ले। पर स्वाभिमान के भाव से वह कुछ कह न सका।

[६]

इधर प्रेस के प्रबन्ध में कुछ व्यापक परिवर्तन हो गये थे। महँगाई होने पर भी जब वेतन में विशेष वृद्धि न हुई, तो उसके कई साथी काम छोड़कर चले गये। पर प्रकाश ने फिर भी काम न छोड़ा। पन्द्रह दिनों के बीच उसे यह भी मालूम हो गया कि एक-एक करके सबको अधिक वेतन का काम मिल गया है। प्रकाश भीतर-ही-भीतर थोड़ा अस्त-व्यस्त अवश्य हुआ, पर प्रेस के संचालक से उसने फिर भी कुछ न कहा। यद्यपि पहले की अपेक्षा अब काम उसको लगभग दूना करना पड़ता था। किन्तु वह सोचता यही था कि कोई व्यक्ति स्वभावतः अन्याय-प्रिय नहीं होता। कभी-न-कभी तो संचालकजी मेरी सेवाओं

का मूल्यांकन करेंगे ही। साथ ही प्रायः यह भी उसके मन में आ जाता कि ईश्वर की सत्ता पर विश्वास रखनेवाले कभी घाटे में नहीं रहते।

दिन चल रहे थे। प्रकाश रात-दिन काम में लगा रहता। आफ़िस से छुट्टी पाकर घर पर भोजन वह स्वयं बनाता। कपड़े स्वयं साफ़ करता। पहले नौकरानी लगी थी, अब उसने उसे भी छुड़ा दिया था। काम करते-करते अत्यधिक श्रान्त रहने के कारण निद्रा भी उसे खूब आती थी। पर मानसिक शान्ति अब उसमें न रह गयी थी। कभी-कभी अकस्मात् रात को नींद टूट जाती और फिर वह सो न पाता। मकान की एक-एक वस्तु के साथ उसे मुन्नू की याद आ जाती, फिर रजनी की वह दुःख-जर्जर मूर्ति। कभी-कभी उसे अपने आप से घृणा भी हो उठती। वह सोचने लगता, क्या मेरा जीवन सदा ऐसा ही असफल बना रहेगा! पर उस समय रजनी की कटूक्तियाँ उसे बिच्छू के दंशके समान जलाने लगतीं। विशेषकर इस बात से उसकी वितृष्णा और बढ़ जाती कि वह ईश्वर की न्याय-निष्ठा पर विश्वास नहीं करती!

तीन मास बीत गये और रजनी का कोई पत्र न आया। तब उसकी चलते समय वाली बात उसे याद हो आयी।—"यही समझ लीजियेगा, रजनी भी मुन्नू के साथ चली गई है!" एक शीतल निःश्वास लेकर वह सोचने लगा—"तो क्या सचमुच रजनी धोका दे जायगी! मुन्नू चला गया, क्या रजनी भी चली जायगी?...प्रभो, तेरी क्या इच्छा है?"

घूम फिरकर प्रकाश अब प्रायः रजनी के सम्बन्ध में यही सोचा करता, वह अब न आयेगी। मेरे यहाँ आकर उसे दुःख भी तो बहुत मिला है। किन्तु इतनी बात सोच जाने पर वह तत्काल लौट पड़ता। उसके मन में आता—"चाहे जो हो, रजनी न तो मर सकती है, न किसी अन्य का हाथ ग्रहण कर सकती है।"

पहले जब रजनी गयी थी, तब प्रकाश सोच बैठा था, उसके बिना भी वह रह सकेगा। यदि वह उसको अकेला छोड़-कर चली गयी है, तो अब वह इस विषय को यहीं समाप्त कर

देगा। वह स्त्री के बिना भी जीवन बिता सकता है। किन्तु ज्यों-ज्यों दिन चलते जाते, रजनी का समाचार पाने की उत्कण्ठा और भी प्रबल होती जाती। साथ ही यह विचार भी उसके मन में उथल-पुथल उत्पन्न किये बिना न रहता कि जो व्यक्ति स्त्री और बच्चों के भरण-पोषण की व्यवस्था उचित और मर्यादानुकूल कर पाने में समर्थ न हो, ऐसी लालसा अपने भीतर उत्थित करने और पनपाने का उसे कोई अधिकार नहीं है। तब उसकी समस्त कल्पनाएँ छिन्न-भिन्न हो जातीं। सहस्र स्वरों और धाराओं से रजनी के ही वाक्य उसके शरीर को छेदने लगते—"तुम्हें रुपये-पैसे, स्वच्छ और सुरुचिपूर्ण खाने-कपड़े और सुव्यवस्थित जीवन की आवश्यकता ही क्या है? तुम तो एक त्यागी देश-सेवक हो और सार्वजनिक सेवा का कार्य कर रहे हो!"

[७]

दिन चल रहे थे। एकान्त चिन्तन में जो विचार प्रकाश के मन को मथते रहते, कभी-कभी व्यावहारिक जीवन में भी उनका प्रतिविम्ब झलक उठता। एक दिन रेणुका आफ़िस में आकर बोली—"बाबूजी तो किसी आवश्यक काम से बम्बई जा रहे हैं। आप को एक काम करना होगा।"

प्रकाश सिर झुकाये सम्पादकीय टिप्पणी लिख रहा था। कलम रोक कर सिर उठाकर बोला—"क्या?"

"दो बोरी गेहूँ बाज़ार से ले आना है। रामाधीन छुट्टी पर गया है। बाबूजी ने कहा था, पंडितजी कहना, वे प्रबन्ध कर देंगे।"

"हूँ" यकायक प्रकाश के मुँह से निकल गया। साथ ही उसने अपना सिर भी हिला दिया। रेणुका ने इसी क्षण पूछ दिया—"क्या कहते हैं?"

टिप्पणी समाप्त करने के साथ ही प्रकाश उठ खड़ा हुआ। बोला—"बाबू जी से कह देना, पंडितजी ने कहा है—"रामाधीन अगर छुट्टी पर

चला गया है, तो भी पंडितजी रामाधीन नहीं बन सकते। कल से दूसरा प्रबन्ध कर लें। मुझे काम नहीं करना है।"

संयोग से उसी समय संचालकजी आ गये। प्रकाश का कथ उन्होंने आते-आते सुन लिया था। बोले—"क्या बात है?"

प्रकाश बोला—"बात बस इतनी है कि आपको तो आदमी कम कर देने से आर्थिक लाभ के साथ-साथ मुझको रामाधीन बना देने का संयोग मिल गया है; पर मुझे इस बुज़दिली के गूंगेपनसे अपने कलेजे के टुकड़े खोने पड़े हैं।

संचालकजी भृकुटियाँ तरेरकर बोल—क्या मतलब? मैं समझा नहीं।"

संयोग से एकाउंटेंट साहब उधर से आ निकले। और संचालकजी ने तब उनसे भी यही प्रश्न कर दिया। वे चश्मा नाक की नोंक पर रक्खे हुए उनकी ओर देखकर बोल उठे—"आप क्यों समझने लगे? प्रेस में हम दो ही आदमी आपको ऐसे मिले हैं, आपने इस महँगाई में भी जिनका वेतन नहीं बढ़ाया। पंडितजी ठहरे गऊ; वे भले ही चुप रहें, पर मैं जानवर नहीं बनूँगा।"

संचालकजी मुँह बनाते हुए बोले—"उहँ! बड़ी छोटी बात है। जब आप लोग कहते नहीं, तो मैं कैसे समझ सकता हूँ। काम भी तो बढ़ गया है। अच्छा, आप दोनों का वेतन मैंने बारह फ़ी सदी बढ़ा दिया।"

इस प्रकार जब प्रकाश एक ओर से थोड़ा-सा उत्साहित हुआ, तो दूसरी ओर भी उसका ध्यान जाने लगा। अब उसके पास कुछ रुपया संग्रह हो रहा था। उसे जब-तब मुन्नू की याद आ जाती। वह सोचने लगता—"काश यही रुपया उस समय होता। हाय मेरा मुन्नू एक गरम कोट के बिना...!"

आज प्रकाश की आँखें भर आयीं। और साथ ही रजनी का यह कथन भी जलते अंगारे-सा उसके समक्ष आ पड़ा—"आप तो सेवा के

लिए उत्पन्न हुए हैं। कष्ट सहना ही आपका धर्म है। रुपये-पैसे की आपको क्या आवश्यकता !"

इसी समय दरवाज़े पर किसी ने किया--कुट्-कुट् !

प्रकाश ने पूछा--"कौन ?"

"एक तार है बाबू साहब !" उत्तर मिला।

प्रकाश ने दरवाज़ा खोलकर ज्यों ही तार का लिफ़ाफ़ा फाड़कर पढ़ा, त्योंही उसे चक्कर आ गया। प्यून तो झट से चला गया। पर प्रकाश थोड़ी देर में इतमीनान के साथ उठा और उसके मन में आया कि वह मकान खुला छोड़कर बिना कुछ लिये इस सुनसान अँधेरी रजनी में एक ओर चल दे।

—वह नहीं जानता, उसे कहाँ जाना है। वह नहीं सोचता, उसे क्या करना है। किन्तु वह आज जीवन में प्रथम बार सोचता है—"इन हत्याओं की ज़िम्मेदारी किस पर है ? क्या तुम पर ? नहीं, तुम्हारी रचना ऐसी हिंसक कभी नहीं हो सकती—कभी नहीं !"